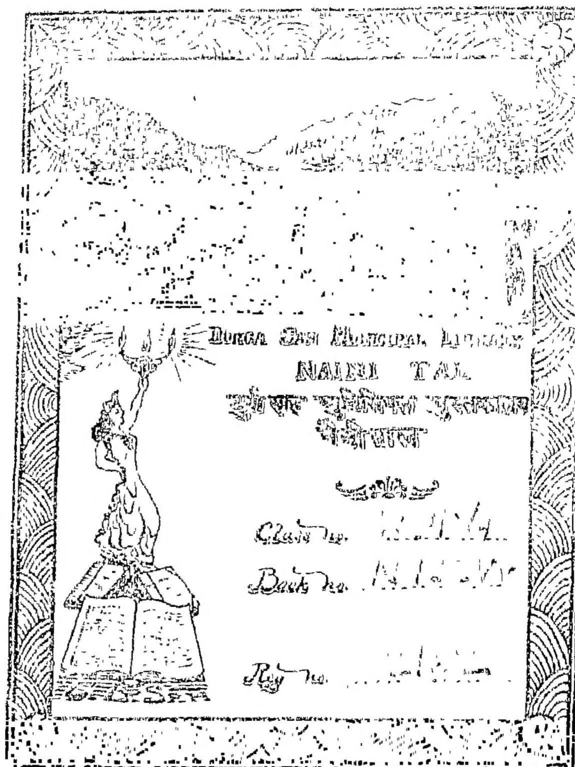

Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no.
Book no.
Reg no.

विचार और विवेचन

लेखक
डाक्टर नगेन्द्र
एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो, दिल्ली

प्रथम वार] [१९४९

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली।

मूल्य : चार रुपये

मुद्रक
मदनलाल गुजराल
एलबियन प्रेस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली।

'विचार और विवेचन' मेरे १३ आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन है। ये प्रायः सभी १६४४ से '४६ तक लिखे गए हैं। आशा है इनके द्वारा मेरा रसात्मक दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। निबंध के सं० ७, ११ और १२ कुछ अंश ऑल-इण्डिया रेडियो, दिल्ली, से प्रसारित हो चुके हैं—आभारी हूँ।

ऑल इण्डिया रेडियो,
नई दिल्ली

नगेन्द्र

क्रम



: एक :

भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

एक [भूमिका]

भारतीय काव्य-शास्त्र का आरम्भ :—

यों तो भाव-प्रेरित वाणी के प्रथम स्फुरण के साथ ही कविता का, और बुद्धि की प्रथम क्रिया के साथ ही शास्त्र का जन्म मानना चाहिए परन्तु हम यहाँ कविता और शास्त्र के जिस रूप की विवेचना कर रहे हैं उसका विकास मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित अवस्था में और स्पष्टतया क्रमशः हुआ। भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का विस्तार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानस-जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त कर अपने-अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ लिखे—

कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भः रीति-निर्णयं सुवर्ण-नाभः आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्द-श्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः अतिशयं पाराशरः अर्थ-श्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं

नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः इति ।" विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है—वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढ़े गए मालूम पड़ते हैं। परन्तु कुछ नामों का उल्लेख अवश्य मिलता है—जैसे काम-सूत्र में औपनिषदिक के व्याख्याता कुचुमार और साम्प्रयोगिक के व्याख्याता सुवर्णनाभ का उल्लेख है। रूपक या नाट्य-शास्त्र पर भरत का ग्रंथ तो किसी-न-किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र गीत, नृत्य और तन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है—परन्तु इस पर इनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

भारतीय वाङ्मय का सर्वप्रथम रूप जो आज प्राप्त है वह है वेद, और उसमें भी ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद की ऋचाओं में काव्य का जो विस्तृत वैभव मिलता है, वह इस बात का स्वतः प्रमाण है कि इतिहास के उस युग में भारतीय चेतना काव्य की विभूतियों से पूर्णतः परिचित हो चुकी थी। इन छन्दों के काव्य-गुण का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि उनके स्रष्टाओं में दिव्य-भाव की प्रेरणा चाहे जितनी रही हो परन्तु वे वाणी की शक्ति और उसके शृङ्गार आदि का भी विशेष ज्ञान रखते थे—और उनके प्रति सचेत भी थे। उदाहरण के लिए—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान् शुचि भ्राजा उषसो नवेदा…………

सुनहली अलकों वाला वह अन्धकार को दूर कर दिशाओं में फैल जाता है, अहि के समान वात-सा गतिशील और सबकी कम्पन का कारण वह आलोक-शोभी ऊषा का ज्ञाता है।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।

आकाश में उड़ता हुआ वह उज्ज्वल हंस अपनी सहस्रों वर्ष की दीर्घ-यात्रा तक पंख फैलाये रहता है।

रथी कशयाश्वां अभिक्षिपन्ना विदूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।

विद्युत-कशाघात से बादल रूपी अश्वों को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गए हैं।

उपर्युक्त ऋचाओं में उपमा, रूपक, श्लेष, समासोक्ति आदि का अपूर्व वैभव है—और वह घुणाक्षर न्याय से घटित नहीं है—स्पष्ट ही उसका स्रष्टा अपने वैदग्ध्य और वाक्-शक्ति से अनभिज्ञ नहीं था।

यह तो हुआ काव्य का व्यवहार-गत रूप, परन्तु इसके अतिरिक्त वेदों में कुछ ऐसे संकेत भी बिखरे मिल जाते हैं जिनका सम्बन्ध विवेचन से है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की वे ऋचाएं ली जा सकती हैं जो वाक् को सम्बोधन करके लिखी गई हैं—

'अहं सुराष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।'

अर्थात मैं रानी हूं—निधियों का संग्रह करने वाली यज्ञियों (पूज्यों) में प्रथम।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।

मैं स्वयं उस शब्द को उच्चारित करती हूं जो देवताओं और मनुष्यों को समान रूप से प्रिय है। जिस व्यक्ति से मैं प्रेम करती हूं, उसे मैं अत्यन्त पराक्रमी, मेधावी, ऋषि और ब्राह्मण बना देती हूं।

उपर्युक्त दोनों ऋचाओं में वाणी के महत्व का वर्णन है—और 'वाणी' से यहाँ तात्पर्य है कवि की वाणी (साधारण वाणी से भिन्न)। कवि की वाणी सर्वकाम्य है, उसके द्वारा वैभव की प्राप्ति होती है—मेधा और पराक्रम की प्राप्ति होती है—और उसका प्रयोक्ता ऋषि अर्थात् मंत्रद्रष्टा तथा ब्रह्मवेत्ता के गौरव का अधिकारी होता है। काव्य के प्रयोजन का स्पष्ट उल्लेख है इन पंक्तियों में! यहाँ काव्य-प्रकाश के 'काव्यं यशसे अर्थकृते शिवेतरक्षतये'''का संकेत ढूंढना निराधार कल्पना नहीं होगी। आप देखिये मम्मट का 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' वेद की ऋचाओं में कितना ठीक उतरा है।

इनके अतिरिक्त वेदों में नृत्य, गीत, छन्द का सम्यक् विवेचन पृथक् रूप से भी मिलता है। छन्द तो वेद के षडंगों में से एक स्वतन्त्र अङ्ग ही है—उधर 'उपमा' शब्द का भी प्रयोग वहाँ अनेक स्थलों पर हुआ है। वेदों उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थ आदि का विषय

सर्वथा भिन्न है—अतएव उनमें इस प्रकार के विशेष संकेत नहीं हैं।

वैदिक काल के उपरान्त महाकाव्य-काल आता है और आदि कवि के प्रथम छन्दोच्चार की वह प्रसिद्ध कथा अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक सम्भावनाओं के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। वैसे तो रामायण के बाल-काण्ड में नव रसों का स्पष्ट उल्लेख भी है*—पर उसको प्रायः आज प्रक्षिप्त ही माना जाता है। किन्तु यह प्रथम छन्दोच्चार की कथा काव्य की मूल प्रेरणा का अत्यन्त भव्य व्याख्यान है:—

> निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत ॥
> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥

उपर्युक्त काव्य-स्फुरण से स्वयं वाल्मीकि को आश्चर्य हुआ—परन्तु बाद में घटना का पर्यालोचन करने के उपरांत वे इस निश्चय पर पहुँचे—

> शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा।

अर्थात् मेरे शोकार्त मन का यह उच्चार कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। शताब्दियों पश्चात् आनन्द-वर्धन और अन्य आचार्यों ने वाल्मीकि के इस वक्तव्य को रस और ध्वनि सिद्धांत की प्रथम स्वीकृति घोषित किया। श्रीयुत संकरन ने उपर्युक्त श्लोकों का तत्व-विश्लेषण करते हुए उसमें रस-सिद्धांत का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है:—"आहत क्रौञ्च का रक्तरंजित शरीर और क्रौञ्ची का रुदन, जिसका कि ऋषि ने स्वयं साक्षात्कार किया था, प्रत्यक्ष अनुभव के क्षेत्र से आगे बढ़कर कल्पना के क्षेत्र में पहुँच गये—और वहाँ उन्होंने विभाव और अनुभाव रूप में उपस्थित होकर ऋषि के मन की करुणा वृत्ति को जागृत कर उस चरम स्थिति तक पहुँचा दिया जिसमें कि उनकी वैयक्तिक चेतना सर्वथा लुप्त हो गई—केवल एक तीव्र करुणा—

* पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं, तन्त्री-लय-समन्वितम्।
रसैः शृङ्गार करुण हास्य रौद्र भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतद् गायताम्।

विगलित मानसिक एकाग्रता-मात्र शेष रह गई; जो अन्त में एक प्रकार के अनिर्वचनीय आनन्द अर्थात् रस में परिणत हो गई।"—संकरन महोदय का यह मत संस्कृत रस-शास्त्र से मेल नहीं खाता, क्योंकि एक तो यहाँ प्रत्यक्ष स्थिति से ही रस का परिपाक सिद्ध होता है जो शास्त्र को मान्य नहीं है—दूसरे काव्य के सर्जन में ही कवि को रस-भोक्तृत्व प्राप्त हो जाता है जिसको शास्त्र ने कम-से-कम वैध रूप में स्वीकृत नहीं किया। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इन पंक्तियों में वाल्मीकि की सूक्ष्म आलोचन शक्ति का आभास तो मिलता ही है—साथ ही काव्य-शास्त्र के निम्नलिखित कतिपय मूल सिद्धान्तों के संकेत भी स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं :—

(१) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है—

[सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्य की आत्मा भाव या रस है।]

(२) काव्य अपने मूल रूप में आत्माभिव्यक्ति है।

(३) कवि रस-स्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।

(४) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

महाकाव्यों के उपरान्त व्याकरण, दर्शन आदि का निर्माण हुआ। यद्यपि इन दोनों शास्त्रों का काव्य-शास्त्र से सीधा सम्बन्ध नहीं है फिर भी काव्य-शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का आधार इनसे ही ग्रहण किया गया है।

भारत का व्याकरण-शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही समृद्ध भी। उसे तो वास्तव में भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रन्थ हैं निरुक्त और निघण्टु। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ प्रकारों का विवरण दिया है—जैसे 'भूतोपमा', जिसमें उपमित उपमान बन जाता है—'रूपोपमा', जिसमें उपमित और उपमान का रूपसाम्य होता है, 'सिद्धोपमा', जिसमें उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी 'लुप्तोपमा' या 'अर्थोपमा', जिसमें साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था और उसने 'उपमित' 'उपमान' 'सामान्य' आदि का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातञ्जलि का महाभाष्य भी इन सूत्रों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण-शास्त्र हमारे

काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है—वाणी के अलंकरण के जो सिद्धान्त काव्य-शास्त्र में स्थिर किये गए, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन, आनन्द-वर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रमुख सिद्धान्त भी मूलतः व्याकरण के 'स्फोट' से लिया गया है।

व्याकरण के उपरान्त काव्य-शास्त्र का दूसरा आधार दर्शन भी है—काव्य-शास्त्र के कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है—उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, का संकेत न्याय-शास्त्र के शब्द-विवेचन में मिलता है—नैयायिकों के अनुसार अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनों का बोध हो जाता है उन्होंने शब्दार्थ का गौण भव्य, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों में विभक्त किया है आगे शब्द प्रमाण के सम्बन्ध से न्याय और मीमांसा दोनों में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण और अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव में न्याय और मीमांसा के विवेचन को व्याख्यात्मक आलोचना का उद्गम समझना चाहिए। इसी प्रकार व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्ति का सिद्धान्त सांख्य के परिणामवाद से असंपृक्त नहीं है, जिसके अनुसार सृष्टि का आशय एक नवीन पदार्थ का उत्पादन नहीं, अभिव्यक्ति ही है। वास्तव में कार्य कारण में ही सन्निहित रहता है—वह सृजन नहीं है वरन् अभिव्यक्ति ही है। इससे भी स्पष्ट है वेदान्तिकों का मोक्ष सिद्धान्त जिसके अनुसार आनन्द या मोक्ष बाहर से प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के बाद स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन बहुत-कुछ अनुमान पर आश्रित है—इससे काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति के कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

निदान काव्य-शास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रन्थों के रचना-काल के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डॉ० सुशीलकुमार डे, प्रो० काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिला-लेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ, बाद में,

कालिदास का अलंकृत काव्य सभी इसकी ओर संकेत करते हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरंभिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते है। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामों का उल्लेख किया है—उधर भामह ने मेधाविन्, और दण्डी ने कश्यप आदि का; परन्तु अभी तक इनके ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का आरम्भ :—

पाश्चात्य साहित्य का प्राचीनतम रूप होमर का काव्य है। होमर का समय ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। उनका विभूतिमान काव्य न केवल अपने स्रष्टा की काव्य-प्रतिभा का ही, वरन् उसके युग के रुचि-संस्कार का भी परिचायक है। काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत भाव-वैभव के साथ आलोचन शक्ति भी आती इलियड और ओडीसी की कविता का अभिव्यञ्जना-वैभव होमर की काव्यालोचन शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप में कहीं भी उन्होंने सिद्धान्त-विवेचन प्रासंगिक रूप से भी नहीं किया। होमर के अध्येताओं ने केवल एक ऐसा स्थल खोज निकाला है जिसमें काव्य-शास्त्र के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का पूर्व-संकेत मिल जाता है:—

Bid hither [Says Alcinous] the divine minstrel Demodocus for the god hath given minstrelsy to him as to none other to make man glad in what way so ever his spirit stirs him to sing [Odyssey VIII, 4345 trans]

"हे डेमोडोकस, उस दिव्य-प्रतिभाशाली कवि को यहाँ बुलाओ, देव ने जैसी काव्य-शक्ति उसे दी है, वैसी दूसरे को नहीं दी—जिस रीति से भी उसकी आत्मा उसे गाने के लिए प्रेरित करती है, वह उसी रीति से मनुष्यों का मनःप्रसादन कर सकता है।"

उपर्युक्त पंक्तियों से निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है:—

(१) कविता का उद्रेक दैवी प्रेरणा से होता है---अर्थात् कविता के लिए पहला अनिवार्य गुण है दैवी प्रतिभा, जिसे अन्यत्र 'शक्ति' आदि भी कहा गया है।

(२) कविता का प्रयोजन आनन्द है, शिक्षण नहीं।

होमर के महाकाव्यों के उपरान्त यूनानी नाटकों का युग आता है। इस युग के आरम्भ से लेकर ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक अनेक हास्य-नाटकों की सृष्टि हुई। उनमें जीवन की प्रायः सभी वस्तुओं को हास्य का आलम्बन बनाया गया है। फिर, साहित्य जैसा विषय, जिसमें रुचि-वैचित्र्य तथा मत-भेद के साथ पारस्परिक स्पर्धा के लिए भी असीम क्षेत्र था, किस प्रकार अछूता रह जाता ? दुर्भाग्य से इस युग का अधिकांश साहित्य आज अप्राप्य है, परन्तु शीर्षकों आदि के उल्लेखों से, जो परवर्ती साहित्य में मिलते हैं, उनके वर्ण्य विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए उनके शीर्षक हैं---कविता, कवि, सैफ़ो, रिहर्सल इत्यादि। इनके वर्ण्य विषय और आलम्बन आदि का सीधा संबन्ध साहित्य से है---अतएव निश्चय ही उनमें तत्कालीन साहित्य और कला-रुचि का उपहास किया गया होगा। वास्तव में यूनानी राजनीति, कर्त्तव्यनीति और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में स्वभाव से पुरातन-प्रिय थे---उनमें नवीन आदर्शों और मूल्यों के प्रति एक विशेष उपहास और घृणा का भाव वर्तमान था। उसी के परिणाम स्वरूप इन हास्य-नाटकों में भी नवीन भाव-धारा और अभिव्यंजना आदि का उपहास किया गया है। इस साहित्य में से केवल एरिस्टोफ़ेनीज़ के ११ नाटक आज प्राप्त हैं---इनमें एक है 'फ्राग्स' (मेंढक)। इस नाटक में यूनान के दो प्रसिद्ध नाटककार एस्काईलस और यूरिपाइडीज़ में एक विस्तृत साहित्यिक विवाद चलता है जिसमें वे एक दूसरे के नाटकों की पहले राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से, और फिर कला और शैली आदि की दृष्टि से तीखी आलोचना करते हैं। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से यह आलोचना अपना विशेष महत्व रखती है---इसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की आलोचना के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। ऐसकाइलस 'महान् कथा-वस्तु' और 'महान् शैली' के सिद्धान्त का मानने वाला है---वह विषय और शैली की विशिष्टता का समर्थक है---

एक विशेष धरातल से नीचे उतर कर साधारण नित्य-प्रति के जीवन का साधारण व्यावहारिक शैली में चित्रण करना, उसकी दृष्टि में, साहित्य की महत्ता को खण्डित करते हुए उसे सस्ता और घटिया बना देना है। विषय और शैली का सहज और अनिवार्य संबन्ध है—विषय और भाव की गुरुता से वाणी भी अनिवार्यतः गुरु-गंभीर हो जाती है।

When the subject is great and the sentiment, then, of necessity great grows the word.'

इसके विपरीत यूरीपाइडीज़ प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति विद्रोह करता हुआ विषय तथा भाषा दोनों की व्यावहारिकता और ताज़गी का पक्ष लेता है—

I put things on stage that come from daily life of business.

अर्थात मैं अपने नाटकों में उन बातों का चित्रण करता हूं जिनका सीधा संबन्ध नित्य-प्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है।

इसी तरह—

Oh! Let us atleast use the language of men!

आह, हमें कम-से-कम मनुष्यों की भाषा तो बोलने दो।

उपर्युक्त उदाहरणों में, आप देखिये, काव्य-शास्त्र का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाया गया है। काव्य के विषय और शैली साधारण होते हैं अथवा असाधारण और विशिष्ट? वास्तव में यहाँ साहित्य के प्राचीन और आधुनिक मूल्यों का संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है, और नाटककार ने एसकाईलस के मुख से अत्यन्त सशक्त वाणी में जो अपना निर्णय दिया है वह आज भी उतना ही महत्त्व-पूर्ण और विवादास्पद बना हुआ है। उसके दो भाग किये जा सकते हैं:—

(१) काव्य वस्तु और काव्य भाषा का अनिवार्य संबन्ध है।

(२) काव्य की वस्तु और काव्य की भाषा अनिवार्यतः असाधारण ही होती है।

एरिस्टोफ़ेनीज़ की आलोचना का महत्त्व केवल वैयक्तिक ही नहीं.

वरन् सामाजिक भी है—उनके नाटकों में तत्कालीन समाज के साहित्यिक धरातल और आलोचनात्मक शक्ति पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय, जैसा कि कुछ शताब्दियों पश्चात भारतीय समाज में भी हुआ, काव्य-रुचि और काव्य-ज्ञान एक प्रकार से सामाजिक व्यक्तित्व के अलङ्कार समझे जाते थे—गोष्ठी में सम्मान प्राप्त करने के लिए उनकी अनिवार्य आवश्यकता होती थी। दूसरे उस समय एक लाक्षणिक अर्थवती आलोचनात्मक शब्दावली का प्रचार हो चला था—उदाहरण के लिए 'सृजन-शील कवि' 'कार्य के चित्रण में अस्पष्ट' आदि-आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें एक विचित्र लाक्षणिक नवीनता है—जैसी कि रोमानी आलोचना में बीसियों शताब्दी बाद जाकर मिली।

एरिस्टोफ़ेनीज़ के कुछ और सहयोगियों के नाटकों में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं, परन्तु वे संख्या और महत्त्व दोनों की ही दृष्टियों से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

इनके उपरान्त ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिकों ने तथा डायोनीसियस और लोंजाइनस जैसे आलोचा-

---

टिप्पणी—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि काव्य में ऐन्द्रियता का स्वच्छन्द विहार शास्त्र-सम्मत था, उस पर किसी प्रकार का नैतिक नियंत्रण नहीं था। नहीं, नीति और धर्म की मर्यादा का दोनों काव्य-शास्त्रों ने उचित सम्मान किया है—काव्य का आनन्द यदि अनीति और असंयम से प्राप्त होता है, तो उसकी निन्दा की गई है—यों कहना चाहिए कि काव्यानन्द का जो स्वरूप स्थिर किया गया है उसमें नैतिकता का भी अन्तर्भाव है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अनैतिक आनन्द को रसाभास कहकर दूषित माना गया है। परन्तु फिर भी एक बात जो विशेषतः मन को प्रभावित करती है वह यह है कि नैतिकता या धर्म को कहीं भी काव्य-गुण की कसौटी नहीं बनने दिया और न किसी अन्य रूप में ही उसे उसके ऊपर हावी होने दिया है। उसका प्राण तो आनन्द ही है, नैतिकता इसी का आनुषङ्गिक तत्त्व-मात्र है। इस मुख्य सिद्धान्त को लेकर समय-समय पर वाद-विवाद हुआ है—फिर भी इसका महत्त्व अक्षुण्ण ही बना रहा। काव्य में नैतिकता कभी आनन्द को स्थानान्तरित नहीं कर सकी।

रिकों ने इस प्रश्न को अत्यन्त गंभीरता-पूर्वक ग्रहण कर लिया, और वहीं से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का क्रम-बद्ध विकास आरंभ हो गया।

दृष्टिकोण

भारतीय और पश्चिमी काव्य-शास्त्रों में एक आधारभूत समानता यह मिलती है कि आरंभ से ही इन दोनों का दृष्टिकोण ऐहिक रहा है। भारतवर्ष में जीवन के सभी क्षेत्रों पर अध्यात्म का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि यह कल्पना सहज ही बँध जाती है कि वह काव्य-जैसे गंभीर जीवन-तत्व का भी आध्यात्मिक व्याख्यान ही करेगा। परन्तु हम देखते हैं कि आरंभ से ही उसने काव्य को लोकोत्तर कहते हुए भी आध्यात्मिक नहीं माना है। पश्चिम में, बल्कि, आरंभ में प्लेटो आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द के बीच का अन्तर स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाया, और उसने दोनों के बीच में काफ़ी भ्रान्ति पैदा कर दी। परन्तु बाद में, वहाँ भी इस त्रुटि का शीघ्र ही संशोधन हो गया और निर्भ्रान्त रूप से काव्य को अध्यात्म से पृथक् रखा गया।

आगे चलकर दोनों में एक विशेष अन्तर दिखाई देने लगा—वह यह कि पश्चिम में काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की जाने लगी; परन्तु इधर भारतीय दृष्टि ने कला और काव्य को सदैव पृथक् रखा। कला को हमारे यहाँ हीनतर विद्या माना गया—उसके सृजन में शिक्षा और उसके प्रयोजन में मनोरञ्जन का प्राधान्य रहा—इसके विपरीत काव्य के लिए दिव्य-प्रेरणा और गंभीर परिष्कृत आनन्द को अनिवार्य माना गया। उधर पश्चिम में काव्य का अन्तर्भाव ललितकलाओं में किया गया।

लेकिन वहाँ कला का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा माना गया है—उसके लिए मानसिकता अनिवार्य मानी गई है और उसी के आधार पर कलाओं का कोटि-क्रम स्थिर किया गया है। काव्य को वहाँ श्रेष्ठतम कला मानते हुए उसका स्तर अत्यन्त ऊँचा रखा गया है। इस प्रकार कला के अन्तर्गत गणना करके विदेशी काव्य-शास्त्र ने साहित्य के गौरव की कोई हानि नहीं की जैसा कि आचार्य शुक्ल ने अपने एक निबन्ध में संकेत किया है। वास्तव में भारत और पश्चिम के आचार्यों ने कला का जो स्वरूप स्थिर किया उसमें ही अन्तर है। भारत ने जहाँ कला का सम्बन्ध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरञ्जन से मानते हुए उसको

हीन पद दिया, वहाँ पश्चिम ने मानसिकता को ही कला का मूल और अनिवार्य तत्त्व मानते हुए उसे अधिक गौरव दिया—उसने कला के दो वर्ग किये—ललित कला और उपयोगी कला। भारत में जिन क्रियाओं को कला माना गया है उन्हें योरोप में उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि दोनों काव्य-शास्त्रों के दृष्टिकोण का यह अन्तर सतह का ही है—मूलगत नहीं है। दोनों ने समान रूप से काव्य की मूल आत्मा और उसके स्तर को अत्यन्त उच्च और असाधारण माना है—जो कुछ अन्तर है, वह वास्तव में कला की परिभाषा और धरातल में ही है।

क्षेत्र-विस्तार

काव्य-शास्त्र के दो भाग हैं—एक काव्य-दर्शन, दूसरा काव्य रीति। काव्य-दर्शन के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन, काव्य की अनुभूति, रस का स्वरूप, काव्य की मूल प्रेरणा, काव्य के स्रष्टा की मनःस्थिति एवं सृजन-प्रक्रिया, भोक्ता (सहृदय) की मनःस्थिति एवं भोग-प्रक्रिया, रस की स्थिति, काव्य के मूल तत्त्व आदि आधारभूत प्रश्न आते हैं; और काव्य रीति के अन्तर्गत शैली के तत्त्व, प्रकार, भाषा, अलंकार, छन्द आदि का विवेचन आता है। योरोप में सबसे पहले प्लेटो और अरस्तू सदृश दार्शनिकों ने ही जीवन के अन्य शास्त्रों तथा विद्याओं के साथ-साथ काव्य-शास्त्र को भी गंभीरता पूर्वक ग्रहण किया। प्लेटो ने मुख्यतया काव्य के प्रयोजन अर्थात् नैतिक प्रभाव को अपने विवेचन का विषय बनाते हुए उसके स्वरूप के विषय में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का निर्देश किया। उन्होंने काव्य की अनुभूति को ऐन्द्रिय मानते हुए उसे समाज के लिए हानिकारक बताया—जिसका उत्तर शताब्दियों बाद प्लोटीनस ने दिया। प्लेटो ने सत्य को काव्य की कसौटी माना और तत्कालीन नाटकों तथा अन्य साहित्य को सत्य की अनुकृति की अनुकृति कहकर हेय घोषित किया। इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का प्रयोजन, काव्यानुभूति का स्वरूप, काव्य का मूल-तत्त्व आदि काव्य-दर्शन के अनेक प्रश्नों पर विचार किया। प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने भी अपने गुरु के आक्षेपों का उत्तर देते हुए उपर्युक्त समस्याओं का विस्तृत तथा गहन विवेचन किया है। उन्होंने प्लेटो के अनुकृति शब्द को ग्रहण करते हुए उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या

की है और अन्त में उसे ही काव्य का मूल रूप माना है। इसके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उन्होंने उठाया है : वह यह कि दुःखान्त नाटक द्वारा आनन्द की उपलब्धि किस प्रकार होती है ? इसी के उत्तर में उन्होंने अपने प्रसिद्ध* रेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने काव्य-शास्त्र के दूसरे अङ्ग काव्य-रीति का भी समुचित विवेचन किया है—अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में उन्होंने विशेषकर दुःखान्त नाटक और सामान्यतः महाकाव्य आदि के अङ्गाङ्ग—वस्तु, पात्र भाव (रस) तथा शैली आदि का सविस्तार व्याख्यान किया है; और उधर अलंकार-शास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। दार्शनिकों के इस तात्त्विक विवेचन के उपरान्त अलङ्कार-शास्त्रियों के अनेक ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची मिलती है। इन अलङ्कार-ग्रन्थों में भाषा और भाषण को प्रभावशाली बनाने और सजाने वाली विभिन्न रीतियों का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इनके प्रतिपाद्य के अन्तर्गत अलङ्कार, शैली के तत्त्व, शैली के प्रकार, शब्द-चयन, वाक्य-संगठन लय, छंद आदि का विवेचन-विश्लेषण है। शैली का वर्णन करते हुए डेमेट्रियस ने उसके चार भेद किये हैं—एलीगेण्ट (सुन्दर), प्लेन (स्पष्ट), फोर्सिबिल (ओजस्वी) और एलीवेटेड (उदात्त)। ये भेद बहुत कुछ अपने काव्य-शास्त्र के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों से मिलते-जुलते हैं। लौंजाइनस ने 'उदात्त' पर एक पृथक् निबन्ध ही लिखा है। पश्चिम के इतिहासकार उसे पहला रोमानी आलोचक मानते हैं। ग्रीक के बाद लेटिन और फ्रेञ्च में काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन हुआ। परन्तु इन आचार्यों ने कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएं नहीं कीं—इनके विवेचन की सरणियाँ वे ही रहीं।

भारतीय काव्य-शास्त्र की परिधि और भी विस्तृत है। काव्य-दर्शन के अन्तर्गत हमारे आचार्यों ने मुख्यतः काव्य का स्वरूप और परिभाषा, काव्य की आत्मा, काव्य के अङ्ग, प्रयोजन, हेतु, काव्य की अनुभूति (रस) का स्वरूप, रस के कारण (विभाव), कार्य (अनुभाव) स्थायी और संचारी भाव, रस की स्थिति, आदि मूल-भूत तथ्यों का गम्भीर विवेचन किया है। अनेक आचार्यों ने मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों की भी सहायता लेकर रस-भोक्ता (सहृदय) के मन का अत्यन्त

* Catharsis

सूक्ष्म विश्लेषण किया है। काव्य-रीति के क्षेत्र में तो मेरी धारणा है कि उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा। वस्तु, पात्र के अनेकशः भेद, शैली के अनेक प्रकार, गुण, दोष, शब्द-शक्तियाँ, अलङ्कारों के अगणित रूप, छन्दों के शत-शत प्रस्तार पूरे विस्तार के साथ दिये हुए हैं। जहाँ तक विस्तार का सम्बन्ध है, भारतीय आचार्य अपराजेय है—यूरोप का अलंकार-शास्त्र भारत के अलंकार-शास्त्र की तुलना में अत्यन्त निर्धन है।

पश्चिमीय और भारतीय काव्य-शास्त्रों के प्रतिपाद्यों में विचित्र समताएं और विषमताएं मिलती हैं।

समता

पश्चिम में काव्य के तीन तत्त्व माने गए हैं—वस्तु (मैटर) शैली (मेनर) और आनन्द देने की शक्ति (कैपेसिटी टू प्लीज़)। बाद में आनन्द की व्याख्या की गई और एडीसन का संकेत ग्रहण करते हुए आनन्द का अर्थ हुआ : कल्पना का आनन्द। इसी बात को दूसरे प्रकार से भी कुछ व्याख्याताओं ने लिखा है—उन्होंने वस्तु का भी विश्लेषण कर डाला—वस्तु = भाव और विचार; और इस प्रकार काव्य के तत्त्व हुए भाव, विचार, कल्पना और शैली, अर्थात् राग-तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली। भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य-तत्त्वों के प्रसङ्ग में आचार्यों ने एक रूपक बाँधा है—जिसके अनुसार रस (या ध्वनि) काव्य-पुरुष की आत्मा है, शब्दार्थ शरीर हैं, माधुर्य आदि गुण अन्तरंग गुण हैं, वैदर्भी आदि रीति अङ्ग-संस्थान हैं, और उपमादि अलङ्कार आभूषण हैं। यहाँ रीति और अलङ्कार शैली के अङ्ग हैं—अतएव उनके स्थान पर शैली शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। गुण की स्थिति थोड़ी-सी विचित्र है—तत्त्व रूप में तो उसे आत्मा अर्थात् रस की विशेषता माना गया है—परन्तु व्यवहार रूप में शैली के प्रमुख तत्त्व के रूप में ही उसका प्रयोग हुआ है। अर्थ से तात्पर्य वस्तु (मैटर) का ही है। रस पर्याय है आनन्द का, यह आनन्द लौकिक या ऐन्द्रिय नहीं है, कल्पना का ही आनन्द है। इसी बात पर जोर देने के लिए आचार्यों ने रस की अपेक्षा ध्वनि को अधिक महत्त्व दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के तत्त्व दोनों शास्त्रों में लगभग एक ही हैं—जिसे यूरोप के आचार्यों ने वस्तु कहा है—हमारे यहाँ भी अर्थ, वस्तु

आदि अनेक नामों से उसका वर्णन है, और जिसे वहाँ शैली या रीति कहा है, वह यहाँ भी 'रीति' आदि के रूप में स्वीकृत है। आनन्द देने की शक्ति—और स्पष्ट शब्दों में—कल्पना को आनन्द देने की शक्ति बिलकुल वही चीज़ है जो हमारा रस या रस-ध्वनि है—और जिस तरह हमारे यहाँ उसे काव्य की आत्मा माना गया है, उसी तरह वहाँ भी उसे प्रमुख तत्त्व माना गया है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पना शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ कहीं भी नहीं हुआ, परन्तु इससे उसके विषय में अनभिज्ञता प्रकट नहीं होती। विभाव, अनुभाव, और संचारी आदि की सृष्टि और फिर उनका संयोग, जिससे कि रस-निष्पत्ति होती है, कल्पना की ही क्रियाएं हैं। परन्तु कल्पना शब्द का प्रयोग न कर यहाँ भावन शब्द का प्रयोग किया गया है।

शैली और उसके तत्त्वों तथा भेदों में भी दोनों शास्त्रों में यथेष्ट समानता मिलती है। इसका कारण यह है कि शैली के पीछे मनोविज्ञान का दृढ़ आधार रहता है, और मनोविज्ञान देश-काल के बन्धनों को एक सीमा तक ही स्वीकार करता है। शैली के तत्त्वों में गुण, दोष और अलङ्कार आते हैं—गुण उसके नित्य तत्त्व हैं और अलङ्कार अनित्य तत्त्व। शैली की मूल प्रेरणा है अपने वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने की भावना—उसके लिए वक्ता जिन विधियों का प्रयोग करता है वे ही यूरोप तथा हमारे देश के रीति-शास्त्र में भिन्न नामों से पुकारी गई हैं। नामों में भिन्नता चाहे कितनी हो, परन्तु कम-से-कम प्रमुख विधियों की कल्पना दोनों शास्त्रों में एक ही प्रकार से की गई है। उदाहरण के लिए भारत के माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि यूरोप के ऐलीगेन्ट, फ़ोर्सीबिल, और प्लेन हैं। यद्यपि संख्या-विस्तार की दृष्टि से भारतीय अलङ्कार यूरोपीय अलङ्कारों से कई गुने हैं, परन्तु मूल अलङ्कार एक प्रकार से समान ही हैं : हमारे उपमा, रूपक, अत्युक्ति, विरोधाभास, वक्रता-मूलक अलङ्कार, श्लेष, यमक, आदि पश्चिम के सिमिली, मैटाफ़र, हाइपरबोल, आक्सीमारन, इनुएन्डोअन आदि के ही समानार्थक एवं समान-धर्मी हैं। इसी प्रकार मूल दोष भी नाम भेद से प्रायः एक ही हैं। शैली के तत्त्वों में शब्द भी आते हैं। योरोप के साहित्य-शास्त्र में शब्द-चयन पर बड़ा बल दिया गया है। वहाँ के अनेक प्रसिद्ध कलाकारों ने शब्द-चयन के लिए अत्यन्त कठोर तपस्या की है। शब्द के प्रचलित अर्थ

लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि की भी उनको सूक्ष्म परख थी—परन्तु फिर भी शब्द-शक्ति का जैसा विवेचन हमारे यहाँ हुआ है वैसा विदेश में नहीं हुआ। संस्कृत आचार्यों का अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तथा तात्पर्य का व्याख्यान अद्भुत है। यूरोप के काव्य-शास्त्र में वास्तव में यह हुआ है कि इनका अलग अस्तित्व न मानकर इन पर आश्रित अलङ्कारों की पृथक् उद्भावना की गई है। मेटोनिमी, सिन-क्डकी, ट्रान्सफ़र्ड ऐपीथेट (विशेषण-विपर्यय), परसोनीफ़िकेशन (मानवीकरण) इनुएन्डो, (व्यंग्योक्ति) यूफ़्यूनिज़्म आदि अलङ्कार लक्षणा और व्यञ्जना के ही उद्भव हैं।

अन्तर

उपर्युक्त समानताओं के साथ-साथ इन दोनों काव्य-शास्त्रों में दृष्टिकोण का एक गम्भीर आधार-भूत अन्तर है जो इस विशाल अन्तराय के लिए उत्तरदायी है। भारतीय काव्य-शास्त्र में जहाँ रस-भोक्ता सहृदय के मन का विश्लेषण है—और उसी को दृष्टि में रखते हुए काव्य की मूलभूत समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रस-स्रष्टा साहित्यकार की मानसिक प्रक्रिया का परीक्षण किया गया है और काव्य के प्रायः सभी तात्त्विक प्रश्नों को उसी के सम्बन्ध में हल करने की चेष्टा की गई है। दोनों की काव्य-परिभाषाएं इसका रोचक प्रमाण हैं। यूरोप में काव्य को जहाँ जीवन की (१) अनुकृति, (२) आलोचना, (३) भाव-स्मरण × आदि कहा गया है, वहाँ कहने वाले की दृष्टि कवि पर ही केन्द्रित रही है—इसके विपरीत हमारे यहाँ जब उसे रसात्मक वाक्य, रमणीयार्थ प्रतिपादक आदि कहा गया है, तब कहने वाले का ध्यान सहृदय की ओर ही रहा है। जैसा कि मम्मट की काव्य परिभाषा❀ से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है काव्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्तिगत रहा है। कवि के विषय में यहाँ शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीन गुणों के अतिरिक्त और किसी बात की विशेष चर्चा ही नहीं है। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में काव्य या साहित्य का वैयक्तिक रूप ही सामने रहा

× (१) अरस्तू (२) आर्नल्ड (३) वर्ड्सवर्थ।

❀ तद्दोषौ सगुणौ अनलंकृती पुनः च क्वापि।

है—वहाँ कृति की आलोचना करते हुए कर्ता को नहीं भुलाया गया। इसीलिए वहाँ आरम्भ से ही व्यावहारिक आलोचना का प्राचुर्य रहा है, जब कि भारत में अभी कुछ वर्ष पहले तक उसका एक प्रकार से अभाव ही था। हमारे प्राचीन काव्य-शास्त्र में रोमानी व्यक्तिवादी आलोचना का सर्वथा अभाव है—शैली, रस, सभी काव्य-तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार किया गया है जैसे उनकी सृष्टि में कवि के व्यक्तित्व का कोई भी हाथ न हो, वे केवल यांत्रिक सृष्टियाँ-मात्र हों। इसी मुख्य भेद के कारण भारतीय काव्य-शास्त्र काव्य के अङ्गाङ्ग के भेद-प्रभेदों में फँसा रहा, उधर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र अपनी परिधि व्यक्तित्व के सहारे मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास आदि तक विस्तृत करता गया।

समन्वय

अन्त में इसी प्रमुख अन्तर के आधार पर भारत और यूरोप के काव्य-शास्त्रों का समन्वय किया जा सकता है। वास्तव में ये दोनों ही अपनी-अपनी दिशा में अत्यन्त विकसित और समृद्ध हैं—भारतीय काव्य-शास्त्र में (सहृदय की) काव्यानुभूति का जितना सूक्ष्म और सटीक विवेचन है, उसको देखकर चकित रह जाना पड़ता है। पश्चिम के आचार्यों ने सहानुभूति, और साधारणीकरण आदि जिन मूलगत सिद्धान्तों की चर्चा अब की है, उनका अत्यन्त पूर्ण विवेचन हमारे यहाँ सातवीं, आठवीं शताब्दियों में हो चुका था। उधर, कवि के मानस का और उसके निर्माण में सहायक होने वाले विभिन्न प्रभावों जैसे समाज-शास्त्र, इतिहास, शास्त्र, मनोविज्ञान आदि का, जो व्याख्यान पश्चिम में हुआ है वह अत्यन्त विस्तृत और रोचक है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जाय, जिसमें स्रष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।



: दो :

रस का स्वरूप

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेदान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः केश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वं नायमास्वाद्यते रसः॥

(साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद)

उपर्युक्त पद्यों में कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत रस-शास्त्र में वर्णित रस के स्वरूप का सार अंकित कर दिया है। यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु है; अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेदान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कार प्राण-आदि पदों द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है; स्वाकारवदभिन्न के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामतः संस्कृत-रस-शास्त्र में रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः—जिसका आस्वादन हो वह रस है—अर्थात् रस आस्वाद-रूप है। उसके आस्वादयित्ता सहृदय ही हो सकते हैं। रस सहृदय-संवेद्य है।

(२) यह आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर स्पर्शशून्य है। अखण्ड का अर्थ यह है कि इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक् या खण्ड चेतना नहीं होती, वरन् सभी की अखण्ड चेतना होती है। दूसरे, इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे, यह अनुभूति चिन्मय अनिच्छापूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धिपूर्वक होती है। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने

पर ही होता है। इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यही है कि उसमें ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चर्वणा आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। श्रृङ्गार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीभत्स रस का अर्थ जुगुप्सा या करुण का अर्थ शोक का अनुभव नहीं है। "भाव, क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, आस्वादन, रसन रस है।" (रस-मीमांसा, डा० भगवानदास)

(३) यह आनन्द चमत्कार—प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित् का विस्तार अर्थात् विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया है, परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द में यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देखकर मन में आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कला-कृति—उदाहरण के लिए ताजमहल को देख-कर, मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेश के सौन्दर्य-शास्त्र में भी सौन्दर्यानुभूति में विस्मय का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है। ऐन्द्रियता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, कवि की लोकोत्तर सृजन-प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है; बस। इसके आगे, अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल अर्थ में ग्रहण कर पेचीदे मज़मूनों के गोरखधन्धे इकट्ठे कर दिये हैं।

(४) रस न ज्ञाप्य है, न कार्य; न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष; न निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक; अतएव किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है, ब्रह्मानन्द-सहोदर है। सवितर्क ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं, क्योंकि उसमें तो अहंकारमयी वासना का सर्वथा

नाश हो जाता है, परन्तु रस में ऐसा नहीं होता।

संक्षेप में आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं :—

(१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

(२) क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है?

(३) क्या यह आनन्द अभौतिक और निराला है?

आनन्द के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन की समस्त क्रियाएं आनन्दोन्मुख हैं। यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हैडोनिस्ट) कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएं अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नहीं रखतीं। ये अपना लक्ष्य आप ही हैं। अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है; जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी (हॉरमिक)। इनमें पहला जीवन को साधन और आनन्द को साध्य मानता है और यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरा जीवन को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानता है और वह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं, वे आनन्द की स्थिति स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उसे अनुभूति या भाव की विधि मानते हैं, लक्ष्य नहीं। और इस प्रकार, काव्य में भी आनन्द को साध्य होने का गौरव ये नहीं देते। उसकी सत्ता को साधारण रूप में स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नहीं मानते। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नहीं मानते। परन्तु वास्तव में इस विवेचन में शाब्दिक जटिलता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नहीं है। आनन्द को ये लोग अन्तर्वृत्तियों की क्रिया की सफलता-मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियों की क्रिया सफल होती है, वे तृप्त हो जाती हैं, तो हमें आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नहीं है। महत्त्व है क्रिया का और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगों का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियों के संकलन और समन्वय से आँका जाना चाहिए। जो क्रिया जितनी

अधिक हमारी वृत्तियों को संकलित और समन्वित करेगी उतनी ही वह मूल्यवान् होगी। काव्य और कला में इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है, अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अनवृत्तियों का समन्वय जो उनकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नहीं है तो क्या है ? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नहीं है आनन्द से भिन्न है, वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की विधि-मात्र है, स्वरूप-मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है ? आप अपनी मनः स्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनों में विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने समय किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता। अतएव वृत्तियों के संकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण संकलित अवस्था में तृप्ति, अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकलन की अनुभूति अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? वास्तव में आनन्द का यह निषेध आनन्द की सत्ता का ही प्रतिपादन करता है। हाँ, स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्थ आनन्द की,

---

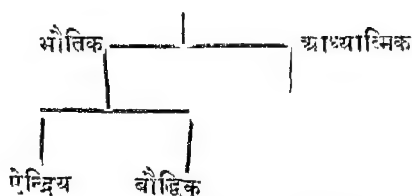
To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude. Obviously it is the poem in which we should be interested, and not in a by-product of having managed successfully to read it. × × × This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had still poorer psychological vocabulary than our own, is one reason why tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure—Principles of Literary Criticism by I. A. Richards p–96-97.)

उस आनन्द की, जो वास्तविक और जीवनप्रद है, प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है। और, इसे मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समर्थ विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है। इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते हैं। परन्तु उनसे हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है, उसे निर्वितर्क समाधि तक ले जाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर स्वरूप में अवस्थान की दशा तक जाते हैं। परन्तु वहाँ तो अनुभूति की सत्ता ही नहीं रहती, निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न निसर्गतः यह उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है ? इस विषय में पहली स्थिति तो यही है; यह (रस का) आनन्द भाव से भिन्न है, और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी तो इसकी प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृङ्गार-रस के आनन्द में अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है, परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और वीभत्स रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुणरस में अभिन्नता कैसे हो सकती है ? यद्यपि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनमें सम्बन्ध अवश्य है। न शृङ्गाररस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण शोक की अनुभूति से, अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलतः सम्बद्ध अवश्य होता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक् है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना।

इसके आगे तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है : रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक ? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलतः तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं :—



स्पष्ट रूप से, यह विभाजन स्थूल है आत्यन्तिक नहीं है, क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है। इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है? अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आत्मिक क्रिया मनुष्य में कैसे कृतकार्य हो सकती है? अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है एकमात्रता का नहीं—उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु!

अब यह देखना है कि काव्यानंद इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या वह किसी के अन्तर्गत ही नहीं आता; वह स्व-सापेक्ष्य और स्वतंत्र है? संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कह-कर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानंद न ऐसा है, न वैसा; अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश में उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहाँ का आद्याचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करता था:—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक् ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या, निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नहीं माना है, परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक् रखा है। शताब्दियों तक योरोप में प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणतः मान्य रहे। परन्तु बाद में रोमन विद्वान् प्लोटीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया।

उसके मत का सारांश यह है : प्रकृति के सौन्दर्य का उद्‌गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ज्ञान की अनुकृति है, इसलिए अनुकृति की अनुकृति होने के कारण कला मिथ्या और अस्पृहणीय है...भ्रान्त है, क्योंकि कला का उद्‌गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटीनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए, उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया। और फिर इसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को, अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतः आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का आवर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनों से पृथक् रूप में सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है जो वस्तु के मूलरूप और कला द्वारा उसके अनुकृत रूप के बीच मिलने वाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनों से भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का थोड़ा-सा आभास मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रोमान्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि बुद्धि की उपेक्षा कर काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अनस्थिर हो गया। प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे-धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे, जिसकी कि स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में ब्रेडले और क्लाइवबैल × आदि में निश्चित रूप से सुनाई पड़ी। इनके

× 1. "First this experience is an end in it-self, is worth having on its own account, has an intrisic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone..............for its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself, independent, complete, autonomous."

अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है। जो लौकिक अनुभूतियों का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीत आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में अभिव्यञ्जनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बैनेडेटो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर मानव प्राण-चेतना में सहजानुभूति की एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। उनके सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति की स्थिति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति—सहजानुभूति है जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओं (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर बिम्बों से होता है। क्रोचे का यह मत कलावादियों के मत का ही वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश-विदेश के साहित्य-शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द विषयक पांच सिद्धान्त मिलते हैं।

(१) काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग में परिपोषण किया ड्यूवाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

(A. C. Bradley, Oxford Lectures on Poetry pp. 5)

2. "Thus Mr. Clive Bell used to maintain the existence of an uniqune emotion—aesthetic emotion."

(I.A. Richards, Principles of Literary Criticism)

"To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no famliarity with its emotions.........."and to not forget the knowledge of life can help no one to our understanding.

(Clive Bell, Art, pp. 25)

(२) काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौन्दर्य-रूप है, सहज आनन्द-रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है; अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं। हीगेल, रवीन्द्रनाथ आदि का यही मत है।

(३) काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

(४) काव्यानन्द सहजानुभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्तक हैं क्रोचे।

(५) काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है—स्व-सापेक्ष्य। यह हमारे काफ़ी पुराना सिद्धांत है। विदेश में इस का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डा० ब्रैडले द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थी का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है, यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी, जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं, क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज मान्य नहीं है, दूसरे काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध अचंचल आनन्द का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एडीसन का कल्पना का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है, क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया-मात्र है, वह स्वतंत्र नहीं है। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनन्द से स्वतंत्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति (intuition) को भी स्वतंत्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तैयार नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान में कोई पृथक्

स्थान नहीं है। अन्त में, काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्व-सापेक्ष्य अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नहीं, उससे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियाँ दी जा सकती हैं, परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है :—वे कहते हैं कि जब सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नहीं है, तो उसकी अनुभूति को ही विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है? उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे मानें?

अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप-निर्णय करना होगा। हम देखते हैं कि काव्यानुभूति में चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही हैं रोमांच, अश्रु, आदि शारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं, अतएव काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, उसमें न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी सन्देह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श कर चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है, वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न होता है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा (उससे भी किंचित् भिन्न) नाटक में पढ़कर प्राप्त होता है। चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच इस समय भी होता है, पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है? स्पष्टतः, उतना प्रत्यक्ष अतएव उतना तीव्र नहीं होता। दोनों में भिन्नता तो अवश्य है, पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता, अतएव, तीव्रता की शक्ति (degree) की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नहीं है, भावित (Contemplated) घटना का अनुभव है। भावन करने में पहले कवि को, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु

साधारण नहीं है भावित (Contemplated) अनुभूति है। अर्थात् उसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर संयोग है। अब, एक शब्द रह गया : अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ में केवल संवेदन रह जाते हैं जिनको वास्तव में हम अपने मनोजगत के अणु-परमाणु कह सकते हैं। शारीरिक रूप में यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं मानसिक रूप में सूक्ष्म और बिम्ब रूप, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते हैं अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि वे लगभग अरूप ही-से लगते हैं, उनका रूप नहीं केवल अन्विति-सूत्र ही रह जाता है। जैसे बहुत बारीक जंजीर की कड़ियाँ नहीं दिखाई पड़तीं केवल सूत्र ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन रूप ही है, उसमें (शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक सभी रूपों में) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है, मूलगत प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द भी संवेदन रूप ही है; परन्तु ये संवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं। साधारण रूप में प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के संवेदनों की कल्पना कर सकते हैं :— १. एक तो शुद्ध प्राकृतिक संवेदन (ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते हैं) जो, उदाहरण के लिए, हमें अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। २. दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं। ये मानो पहले प्रकार के संवेदनों का बिम्ब रूप होते हैं। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष अथवा स्थूल कम, और आंतरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३. तीसरे वे संवेदन जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते हैं। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त आंतरिक एवं सूक्ष्म होते हैं। वास्तव में इनका स्थूल शारीरिक अंश प्रायः नष्ट हो जाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हमें इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं। परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे

प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से (क्रोचे के शब्दों में उसकी सहजानुभूति से, और साधारण व्यावहारिक शब्दावली में, उसको काव्य रूप में उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते हैं। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव। यह स्मृति के अनुभव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसी के अनुपात से इसके संवेदन भी एक की अपेक्षा सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते हैं। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध : परिष्कृत : और दूसरी से अधिक सरस होती है।

यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति वेदन से ही निर्मित है तो कटु संवेदनों के काव्य-रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है ? इसका समाधान करने से पूर्व कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने-आपमें कटु है और न मधुर : कटुता और माधुर्य तो अनुभूति के गुण हैं। अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है, और जब वे विशृङ्खल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने अभी कहा काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं; इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्वरूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।



: तीन :

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावनद्वारा पाठक या श्रोता का भाव की 'सामान्य, भूमि पर पहुँच जाना'—दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना—जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी शाकुन्तलम् के इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार संभव होता है ? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। (चिंतामणि, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद)।" इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावतः यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

इसका संकेत विश्वनाथ में मिलता है। परन्तु यह भट्ट नायक और

अभिनव का मत नहीं है। उन दोनों ने शब्द भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। 'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्ल जी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।" भट्ट नायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं। क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयगा; परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधुर न होकर कटु हैं जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है, तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव में यह सब-कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपने (सहृदय की) राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदयके) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूँकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़

देते हैं। साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूं) १. आश्रय की और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहां आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी संभावना कैसे हो सकती है? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित क्रूर, नीच,आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है--आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे? अच्छा, आश्रय को छोड़िये। साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः"(भट्टतौत)। इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था; परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा,न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुञ्जीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है। क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है : नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है? अर्थात् पुष्पवाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अङ्कुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है? हमारा आस्तिक आचार्य

(भट्टनायक आदि) "शान्तं पापं, शान्तं पापं," कह उठता। और उसने स्पष्ट शब्दों में उसका तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नहीं ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृङ्गार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नहीं देखेंगे शृङ्गार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, क्योंकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के शृङ्गार चित्रों से स्पष्ट है हमें अमिश्रित शृङ्गार नहीं मिलता : हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस। इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण; जो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु उसका साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएं आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित

है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद-वध का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो, यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्था में आयगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्यबुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति की ही प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न हो कर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृङ्गार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमार संभव' या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रत शृङ्गार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति युग के कवि की तद् विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी : उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्ट नायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तु-सीमित दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार

संभव होता है ? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१. साधारणीकरण भाषा का धर्म है। २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्ट नायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है। भट्ट नायक काव्य(काव्यमय शब्द में)ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्व-प्रधान शक्ति, व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं : ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव-प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदयों में भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव मानव के हृदय में—भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है—चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आय, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग, भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर रहता है। और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है, मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। अन्यथा जीवन की स्थिति ही संभव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।



: चार :

शृङ्गार-रस

> शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुक:
> उत्तम प्रकृतिप्रायो रस: शृङ्गार इष्यते ॥(साहित्य दर्पण)

शृङ्गार का अर्थ है कामोद्रेक। उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण ही शृङ्गार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक शृङ्गार कहलाता है, अर्थात् ऐन्द्रिय वासनायुक्त कामोद्रेक, जिसमें शारीरिकता का ही प्राधान्य हो, शृङ्गार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। इसके आलम्बन हैं नायक-नायिका ; उद्दीपन हैं सखी, मंडन, परिहास आदि, अथवा षट्-ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र आदि; अनुरागपूर्ण भृकुटि-भंग, हाव-भाव आदि अनुभाव हैं; आलस्य, मरण, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोड़ अन्य निर्वेद, असूया, धृति आदि संचारी हैं; और स्थायी भाव रति है। रति का अर्थ है : मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान—अथवा प्रिय वस्तु के प्रति मन के उन्मुख होने का भाव—नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम। 'रतिः मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।' इस प्रकार शास्त्र के अनुसार, स्त्री-पुरुष के हृदय में एक-दूसरे के प्रति एक सहज आकर्षण—उन्मुखी भाव—वर्तमान रहता है, जो अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर विशेष मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसे ही शृङ्गार कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक विवेचन

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का उपर्युक्त विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान के विवेचन से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' किसी सहज प्रवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित मनोविकार

है (Emotion is the feeling centred round an instinct)। जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है काम—मिलनेच्छा। काम पर आश्रित मनोविकार ही शृङ्गार या रति है। प्रत्येक भाव के दो पक्ष होते हैं—एक मानसिक, दूसरा शारीरिक। मानसिक पक्ष के अन्तर्गत आत्म-चेतना (अर्थात 'मैं अमुक परिस्थिति में हूँ,' इस चेतना पर मन की सम्पूर्ण वृत्तियों का केन्द्रित हो जाना) को छोड़कर, जो वास्तव में भाव की केन्द्रीय चेतना है, तीन तथ्य विचारणीय हैं: (१) भाव का कारण—व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति, जिसे साहित्य-शास्त्र में आलम्बन कहा गया है; (२) भाव का अनुभूत्यात्मक रूप, जो सुखमय, दुःखमय अथवा मिश्र हो सकता है, और (३) विभिन्न परिवर्त्तित भाव-रूप, जो उसके विकास का सहचरण करते हैं। ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी हैं। शारीरिक पक्ष के अन्तर्गत आती हैं। (१) ऐन्द्रिय संवेदनाएं, जो सात्विक भावों से अधिक भिन्न नहीं हैं, और (२) बाह्य शारीरिक चेष्टाएं, जिन्हें साहित्य में अनुभाव कहते हैं।

शृङ्गार या रति का कारण अर्थात आलम्बन है स्त्री अथवा पुरुष (नायक-नायिका); अनुभूति मूलतः सुखद है [इसीलिए विश्वनाथ ने शृङ्गार को सत्प्रकृति कहा है]; परिवर्त्तित भाव-रूप असूया, हर्ष आदि हैं। ऐन्द्रिय संवेदनाएं रोमांच, स्वर-भङ्ग, विवर्णता, स्वेद, अश्रु आदि हैं, और शारीरिक चेष्टाएं हैं स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि। मनोविज्ञान की दृष्टि से रति काम पर आश्रित भाव-विशेष है, जो हर्ष, असूया आदि सहचारी भावों को जन्म देकर उनसे पुष्ट होता हुआ रोमांच, स्वर-भङ्ग आदि सूक्ष्म ऐन्द्रिय संवेदनों और स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन, रति आदि स्थूल शारीरिक क्रियाओं में अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण में इसी तथ्य को थोड़े भिन्न शब्दों में कहा गया है। यहाँ जीव की मूल वृत्ति मानी गई है काम (libido), और प्रेम इसी मूल वृत्ति का एक परिमित अंश है, जो दमन और कुण्ठाओं के प्रभाववश विभिन्न सरणियों में प्रेरित होता रहता है।

आध्यात्मिक विवेचन

शृङ्गार अथवा रति की आध्यात्मिक व्याख्या भी पौरस्त्य और

पाश्चात्य दर्शनों में की गई है। भारतीय अध्यात्म के अनुसार विश्व की एक-मात्र सत्ता है ब्रह्म अथवा पुरुष, जो मायावश अपने को दो रूपों में विभक्त कर लेता है। ये दो रूप हैं जीव तथा प्रकृति, या आत्म और अनात्म। पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ आत्म और अनात्म के पृथक्करण से होता है। आत्म का स्वभाव है अपना विस्तार करना—वास्तव में आत्म का अनात्म में विस्तार—अथवा यह कहिए कि आत्म का अनात्म को अधिकृत करने का प्रयत्न ही जीवन है। आत्म सक्रिय है और अनात्म निष्क्रिय, इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने आत्म को पुरुष और अनात्म को नारी-रूप में देखा है। पुरुष-रूप आत्म अपना विस्तार जिन क्रियाओं द्वारा करता है, उनमें सबसे मुख्य है प्रजनन। अतएव प्रजनन के लिए वह नारी-रूप अनात्म के संग की कामना करता है। 'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चाभवत्' (वेदोपनिषद्)—अर्थात् एक में वह नहीं रमा, पति और पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद कर लिए। लौकिक शृङ्गार या रति इसी आध्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है। उसकी तीव्रता आत्म-विस्तार की इच्छा की तीव्रता है, उसका सुख आत्म-विस्तार का ही सुख है। भक्ति-सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण अथवा गोपियों तथा कृष्ण के शृङ्गार की इसी आधार पर व्याख्या की गई है। रूपक को अलग करके यह कहा जा सकता है कि जीवन की मूल वृत्ति है आत्म-विस्तार। आत्म-विस्तार की प्राथमिक क्रिया है प्रजनन। प्रजनन द्वारा आत्म अनात्म को अधिकृत कर अपने विस्तार का ही तो प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूलगत प्रयत्न प्रजनन का सहकारी भाव शृङ्गार या रति है।

वैज्ञानिक विवेचन

काम-शास्त्र तथा जीव-विज्ञान में प्रेम का जो विवेचन किया गया है, उसका आधार भी तत्त्वतः उपर्युक्त सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष का शरीर कीटाणुमय कोष्ठकों से बना हुआ है, जिनमें कुछ प्रेरक और कुछ ग्राहक होते हैं। मनुष्य की जीवनी-शक्ति का मूल कारण ये ही कीटाणु-युक्त कोष्ठक हैं। शरीर-निर्माण की कुछ अवस्था तक दोनों प्रकार के कीटाणु वर्तमान रहते हैं, परन्तु कुछ समय के उपरान्त उनमें से एक की संख्या घटती और दूसरे की बढ़ती

चली जाती है। बस, तभी से योनि-निर्णय हो जाता है। पुरुष-कीटाणु प्रेरक (Ketabolic) होते हैं और स्त्री-कीटाणु संग्राहक एवं ग्राहक (Anabolic) होते हैं। उन्हीं के अनुपात के अनुसार लगभग छः सप्ताह के उपरान्त बालक-पिण्ड में पुरुष-स्त्री का योनि-भेद हो जाता है। प्रकृति का एक-मात्र सत्य है सृजन। उसकी समस्त क्रियाएं एक इसी उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही हैं। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कीटाणु स्वभावतः ही एक दूसरे के पूरक रूप हैं—एक-दूसरे से मिलने की उनमें सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सृजन की प्रेरणा से इन्हीं दोनों पूरक कीटाणुओं का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और नारी के चिर रहस्यमय प्रेम का आख्यान है। हृदय के जिस पवित्र भाव को अनादि काल से मनुष्य अध्यात्म और काव्य के अनेक आवरणों में लपेटकर रखता आया है, आज के जीव-विज्ञानी के लिए उसकी कहानी कितनी संक्षिप्त-सी है!

भारतीय साहित्य में शृङ्गार-भावना का विकास

मानव-शास्त्र के पण्डितों का मत है कि आदिम युग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सभी प्रकार के बन्धनों और नियन्त्रणों से मुक्त था। मानव अपनी समस्त जीवन-वृत्तियों को, जिनमें क्षुधा और काम मुख्य थीं, स्वच्छन्दता से तृप्त करता था। सामाजिक नीति-विधान तो उस समय था ही नहीं; परिवार के भी सदस्यों में माता, बहन और पुत्री का विवेक नहीं था। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' की पहली दो कहानियों में आदिम मानव की इसी अवस्था का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उनका कहना है कि आदिम युग में समाज-विधान माता द्वारा शासित था; क्योंकि उस समय केवल मातृत्व ही निश्चित था, पितृत्व नहीं। माता अपने अधिकार का प्रयोग जहाँ जीवन के अन्य उपकरणों के विशिष्ट उपभोग के लिए करती थी, वहाँ सबसे स्वस्थ और सुन्दर पुत्र का अपने लिए वरण करने में भी वह अपनी प्रभुता का उपयोग करती थी। उस युग में शृङ्गार-भावना एक शुद्ध शारीरिक आवश्यकता थी। किसी प्रकार की मनोग्रन्थियाँ—चाहे वे नैतिक हों अथवा आध्यात्मिक—उसमें बाधक नहीं थीं। वैदिक काल तक आते-आते मानव-सभ्यता काफ़ी मंज़िल तै कर चुकी थी। समाज-विधान बनकर व्यवस्थित हो चुका था। मानव

के अन्य कर्मों की भाँति स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी सामाजिक नियमों द्वारा नियन्त्रित था। विवाह-संस्था का अपने पूर्ण व्यवस्थित रूप में स्थापन हो गया था। समान गुण-कर्म-स्वभाव वाले युवक और युवती उचित अवस्था को प्राप्त होने के उपरान्त विद्वानों और वयोवृद्ध कुल-पुरुषों के समक्ष एक दूसरे का वरण करते थे। यह वरण केवल कुल को ही नहीं, वरन् गोत्र को भी छोड़कर प्रायः दूरस्थित स्त्री-पुरुषों के बीच होता था, जैसा कि दुहिता की निरुक्त-कृत व्युत्पत्ति से स्पष्ट है। इसका मूल उद्देश्य होता था सन्तान द्वारा कुल-वृद्धि करना।

"ओं अमोऽमस्मि सा त्वँ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतम्।" अर्थात् हे वधू, जैसे ज्ञानवान मैं ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करता हूं, वैसे तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करती है। मैं सामवेद के तुल्य हूं, तू ऋग्वेद के तुल्य है। तू पृथ्वी के समान है और मैं सूर्य के समान हूं। तू और मैं दोनों ही प्रसन्नता पूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर वीर्य को धारण करें, उत्तम सन्तति को उत्पन्न करें, बहुत-से पुत्रों को उत्पन्न करें। वे पुत्र चिरायु हों। एक-दूसरे के प्रति प्रीति भाव रखने वाले, एक-दूसरे में रुचि रखने वाले, अच्छी तरह विचार करते हुए सौ वर्ष तक एक-दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखते रहें। सौ वर्ष-पर्यन्त आनन्द से जीवित रहें और सौ वर्ष-पर्यन्त प्रिय वचनों को सुनते रहें।

इस प्रकार वैदिक काल में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकता-मात्र न रहकर नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य बन गया था। शृङ्गार-भावना नीति और धर्म के नियमों द्वारा अनुशासित हो चली थी। इसके उपरान्त महाकाव्यों का युग आता है। रामायण और महाभारत इस युग की सृष्टि हैं। रामायण में नीति के बन्धन अत्यन्त दृढ़ हो गए थे। विवाह-संस्था के साथ इस समय स्वकीया भाव का महत्त्व भी अनिवार्य हो गया था। स्त्री-पुरुषों की वरण-सम्बन्धी स्वतन्त्रता कम हो चली थी—विशेषकर स्त्री वरण में स्वतन्त्र नहीं

रह गई थी। यद्यपि स्वयंवर-प्रथा अब भी प्रचलित थी; पर स्त्री के गुरुजन ही उसके योग्य पुरुष का चुनाव करते थे। भारतीय ही नहीं, यूरोप आदि के महाकाव्यों में भी एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलती है, वह यह कि उनमें शृङ्गार-भावना का महत्व सर्वत्र गौण रहा है। उनका मुख्य विषय रहा है सामूहिक जीवन। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र सामूहिक जीवन के ही प्रतीक हैं। अतएव रामायण का मूल उद्देश्य धर्म है। सीता-राम का विवाह प्रेम के लिए नहीं होता, धर्माचरण के लिए होता है:—

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्द वर्धनम्
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृहीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥

कौसल्या-पुत्र श्री रामचन्द्र से राजा जनक बोले—'यह सीता मेरी कन्या है और तुम्हारे साथ धर्माचरण करने के लिए तुम्हें दी जाती है। इसको तुम ग्रहण करो, तुम्हारा कल्याण हो, इसका हाथ अपने हाथ में लो, यह पतिव्रता और तुम्हारी छाया के समान होगी।' रावण सीता का हरण अपने प्रेम की पूर्ति के लिए नहीं करता, वरन् बहन के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए—धर्म के निमित्त करता है। [काम की किंचित् प्रमुखता हमें केवल दशरथ-केकयी-सम्बन्ध में मिलती है; परन्तु सम्पूर्ण रामायण में उसकी भर्त्सना की गई है। एक प्रकार से रामायण की करुणा का बीज ही वाल्मीकि ने इसी तथ्य को बनाया है।] सीता-हरण के उपरान्त राम का विलाप विप्रलम्भ-शृङ्गार का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। वहाँ रस का परिपाक अत्यन्त पुष्ट और गम्भीर है; परन्तु उस विलाप में भी स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है, जैसे राम का प्रेम ही नहीं, उनका धर्म भी आहत होकर रो रहा है। वे बार-बार यही सोचते हैं—'कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यं-मन्तः पुरं मम। निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे। निवृत्त वनवासश्च जनकं मिथिलाधिपं ॥ कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ये निरीक्षितुम्। विदेह राजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ सुता विनाश सन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति। अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ अर्थात्

सीता के बिना मैं शून्य अन्तःपुर में कैसे प्रवेश करूँगा। लोग मुझे निर्वीर्य और निर्दय कहेंगे। सीता के नष्ट हो जाने पर मेरी अधीरता प्रकाशित हो जायगी। वनवास से लौटने पर मिथिलाधिप राजा जनक जब मुझसे कुशल पूछेंगे, तब मैं उनकी ओर कैसे देखूँगा?

महाभारत में आकर नीति-बन्धन बहुत-कुछ शिथिल हो गए हैं; परन्तु उसमें भी मूलवृत्ति धर्म ही है, काम नहीं। वहाँ भी शृङ्गार-भावना स्पष्ट रूप से जीवन-धर्म की अनुगामिनी है। तभी द्रौपदी पाँच पतियों की भार्या हो सकती थी। तभी कुन्ती विभिन्न देवताओं से पुत्र के लिए याचना कर सकती थी। इस प्रकार महाकाव्यों में काम-भावना धर्म का एक अङ्ग थी, उसका महत्त्व अपने में स्वतन्त्र नहीं था। वीर-तत्त्व का मिश्रण उसमें हो चला था। राम को सीता के लिए धनुष तोड़ना पड़ा था, अर्जुन को द्रौपदी के लिए मत्स्य-भेद करना पड़ा था; परन्तु फिर भी प्रमुखता शृङ्गार-भावना की नहीं थी, उसमें भी क्षात्र-धर्म का ही प्राधान्य था। राम और अर्जुन दोनों में से किसी में भी पूर्व-राग का उद्‌भव नहीं हुआ था। वे क्षात्र-धर्म की प्रेरणा से ही शौर्य-परीक्षा में प्रविष्ट हुए थे, प्रेम की प्रेरणा से नहीं। इस दृष्टि से उनका दृष्टिकोण मध्य-युग के चरित-नायकों के दृष्टिकोण से भिन्न था।

चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्षवर्धन और कुछ बाद तक का समय भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के लिए सुवर्ण-काल था। यह भारतीय-साहित्य के भी वैभव का युग था। रूप और रस की मधुर-कोमल भावनाओं से समृद्ध ललित-काव्य की सृष्टि इसी युग में हुई। कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष के काव्य गीति-वैभव से समृद्ध हैं। उन सभी में अपनी-अपनी विशेषताएं होते हुए भी गति का लालित्य और लावण्य सर्वमान्य है। यह काव्य स्वीकृत रूप से शृङ्गार-काव्य है। शृङ्गार-भावना यहाँ अत्यन्त परिष्कृत और संस्कृत रूप में सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है; पर वह शरीर की प्रकृत भूख नहीं है। उसमें मन की कोमल सौन्दर्य-वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध वैभव और विलास के इस युग में शरीर की आवश्यकता नहीं था। वह मन का विलास था, इसीलिए उसमें तीव्रता एवं उत्कटता के स्थान पर

माधुर्य और मसृणता मिलती है। दुष्यन्त, माधव अथवा नल का विरह भी सरस-कोमल ही है। इसी प्रकार शकुन्तला, कादम्बरी, मालती आदि रस-सृष्टियाँ ही हैं, जिनमें मन की सौन्दर्य-चेतनाएं मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव से परितृप्त मन और कल्पना के शत-शत रंगों के स्पर्श से इस शृङ्गार में भारतीय रोमानी भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कान्ति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके उपरान्त मध्यकालीन वीर-गाथाओं का युग आता है। यूरोप के मध्य-युग की भाँति यह भी सामन्तवाद के चरम विकास का युग था। इस युग में एक प्रगाढ़ अहंवाद का जन्म हुआ, जो सामन्तवाद का मानसिक पक्ष ही था। अधिकार और आत्माभिमान इस अहंवाद की दो मूल वृत्तियाँ थीं। काम के क्षेत्र में प्रवेश पाकर इन्हीं दोनों ने वीर-गाथाओं के शौर्याश्रित शृङ्गार (Chivalrous love) को जन्म दिया। इस शृङ्गार में नारी के प्रति काम-चेतना के अतिरिक्त एक वत्सल भाव भी था। पुरुष की चिर-अधिकृत नारी एक ओर अपनी कोमलता में रक्षणीया बन गई थी, दूसरी ओर उसके शौर्य का पुरस्कार भी वही थी। 'None but the brave deserve the fair !'—'वीर ही सुन्दरी के अधिकारी हैं।'—मध्य-युग का यह सिद्धान्त-वाक्य उसकी मनोवृत्ति का सहज परिचायक है। 'पृथ्वीराज रासो' तथा अन्य वीर-गाथाओं के आधार-रस वीर और शृङ्गार ही हैं। इस युग में आकर इन दोनों में पोषक और पोष्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। वैसे तो प्रायः वीर पोष्य और शृङ्गार पोषक है; परन्तु कहीं-कहीं यह क्रम उलट भी जाता है—वीर पोषक और शृङ्गार पोष्य बन गया है। दूसरे शब्दों में इन काव्यों में वर्णित युद्धों और विवाहों के बीच यही सम्बन्ध है। विवाह या तो युद्ध का परिणाम है या कारण।

भारतीय साहित्य में वीर-गाथाओं की परम्परा लगभग २०० वर्ष तक चली। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में जब हिन्दू-शौर्य ने विजेता आक्रमणकारियों से हार मानकर निराशा के आँचल में मुँह छिपा लिया, तो स्वभावतः ही उनका युद्ध समाप्त हो गया, और पराजय तथा निराशा के अवसाद में से भक्ति का जन्म हुआ। अध्यात्म अथवा

परोक्ष-प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है। इस जीवन में अभिव्यक्ति न पाकर पराजित हृदय की वृत्तियाँ उस जीवन की ओर मुड़ीं। नर से त्रस्त होकर उन्होंने नारायण को अपनी भावनाओं का लक्ष्य बनाया। सारा देश भक्ति—अपार्थिव प्रेम—के मद में झूम उठा। विजित हिन्दू और विजेता मुसलमान दोनों ही उसमें विभोर हो उठे। वैसे तो भक्ति अथवा अपार्थिव प्रेम के सभी रूप—अनन्य दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—राग अथवा रतिमूलक होने के कारण शृङ्गार के अन्तर्गत आते हैं; परन्तु यहाँ केवल दाम्पत्य या माधुर्य से ही हमको प्रयोजन है, क्योंकि शृङ्गार का वास्तविक रूप वही है। इस दृष्टि से भक्ति-युग में सूफ़ी-धर्म, भागवत और गीत-गोविन्द से प्रभावित विद्यापति, मीरा, जायसी और सूर ही शृङ्गार-भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस युग का शृङ्गार अपार्थिव शृङ्गार है—अर्थात् उसका आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान् हैं। इस अपार्थिव शृङ्गार का अपना शास्त्र और अपना दर्शन है; परन्तु मनोविज्ञान पार्थिव और अपार्थिव शृङ्गार में कोई मौलिक भेद नहीं करता। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि भक्ति-शृङ्गार का प्रमुख शास्त्र-ग्रन्थ 'उज्ज्वल-नीलमणि' मूलतः लौकिक-शृङ्गार के आधार पर ही रचा गया है। उसके भेद-प्रभेद, आलम्बन, उद्दीपन आदि का विवेचन साहित्य-शास्त्र के ही आधार पर किया गया है। शास्त्र में देव-विषयक शृङ्गार को उज्ज्वल रस कहा गया है। इसका स्थायी भाव है भक्ति या कृष्ण के प्रति रति; आलम्बन हैं कृष्ण (भगवान्); उद्दीपन है भागवत का श्रवण रास-लीला का अवलोकन; अनुभाव हैं अश्रु, रोमांच आदि; और संचारी हैं हर्ष, निर्वेद, औत्सुक्य आदि। वैष्णव दर्शन में इसे आदि-रस कहा गया है। 'रसो वै सः' श्रुतिवाक्य प्रमाण है। भारतीय दर्शनों और उपर्युक्त भक्ति-शास्त्रों ने भक्ति को भी एक मूल भाव माना है। उनका मत है कि आत्मा परमात्मा के प्रति एक सहज रागात्मक भावना का अनुभव करती है, यही भक्ति है। परमात्मा आत्मा का प्राण है, माया का प्रभाव कम होते ही वह उससे मिलने के लिए विकल होने लगती है। यह भाव ही जीवन का परम भाव है, यही अध्यात्म है। इसी भावना को वैष्णव साहित्य ने दाम्पत्य अथवा माधुर्य के

रूपक द्वारा शत-शत प्रकार से अभिव्यक्त किया है। आत्मा की सत्ता को मानकर चलने वाले भारतीय दर्शन और भारतीय भक्ति-शास्त्रों के लिए तो इस अपार्थिव प्रेम की व्याख्या सरल और सुलभ है। उसके लिए जिस प्रकार मन की विभिन्न वृत्तियाँ प्रेम, शोक, भय आदि सत्य हैं, उसी प्रकार आत्मा की यह (आध्यात्मिक) प्रवृत्ति भी एकान्त सत्य ही है। परन्तु आत्मा का पृथक् अस्तित्व न मानने वाला आज का मनोविज्ञान (जिसमें मनोविश्लेषण भी सम्मिलित है) इसको अपने सहज रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। वह उसे मन की वृत्तियों में ही बाँधने का प्रयत्न करेगा। इस विषय में पहली बात तो यही ज्ञातव्य है कि मनोविज्ञान भक्ति को मौलिक तथा अमिश्रित भाव नहीं मानता। वह मिश्र भाव है, जिसका आधार है रति (लौकिक अर्थ में ही)। परन्तु रति के आश्रय और आलम्बन दोनों ही पार्थिव होते हैं, यहाँ आलम्बन अपार्थिव है। इसलिए आलम्बन की अपार्थिवता का प्रभाव इस रति पर पड़कर उसमें थोड़ा मिश्रण, थोड़ा परिवर्तन कर देता है। जहाँ यह अपार्थिव आलम्बन निर्गुण है, अर्थात् केवल एक सत्य—एक विचार-मात्र है, वहाँ उसके प्रति जिज्ञासा की भावना का रति में मिश्रण हो जायगा; जहाँ यह आलम्बन सगुण और साकार है, वहाँ उसके गुणों के अनुकूल (जो वास्तव में बुद्धि द्वारा ही आरोपित होते हैं) भय, विस्मय, कृतज्ञता आदि भावों का रति में सम्मिश्रण हो जायगा। इसीलिए निर्गुण का प्रेम कहलाता है रहस्यवाद, जो रति और जिज्ञासा के मिश्रण से बनता है; और सगुण का प्रेम अनन्य-भक्ति, दास्य भक्ति, सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति अथवा दाम्पत्य या माधुर्य-भक्ति आदि अनेक रूप धारण कर लेता है, जो रति में विस्मय, भय आदि भावनाओं के योग से बनते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपार्थिव आलम्बन के अनेक रूप हो सकते हैं। वह एक ओर सत्य की भाँति सूक्ष्मतम विचार-रूप हो सकता है, दूसरी ओर कृष्ण की भाँति बहुत-कुछ स्थूल और प्रत्यक्ष भी हो सकता है। परन्तु उसके सभी रूपों में एक विशेषता सर्वमान्य है—विश्वास, जिसमें बुद्धितत्त्व अनिवार्यतः वर्तमान रहता है। इसीलिए अनेक दार्शनिकों ने भगवान् को केवल विश्वास ही माना है। अपार्थिव प्रेम में—चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् कम-से-कम ऐन्द्रिय हो, चाहे अधिक-से-अधिक ऐन्द्रिय—इस बौद्धिक विश्वास की पृष्ठभूमि अनिवार्यतः रहती है। इस विश्वास

को बौद्धिक मैं इसीलिए कहता हूं कि ईश्वर में जिन गुणों का भी आरोप किया जाता है, उन सभी का कारण बुद्धि ही तो होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि मनोविज्ञान में अपार्थिव शृङ्गार एक मिश्र भाव है। उसमें ऐन्द्रियता के साथ बौद्धिकता का भी तत्त्व स्थायी रूप से वर्त्तमान रहता है। इसी बौद्धिक तत्त्व के कारण फ्रायड धर्म अथवा भक्ति को शृङ्गार का उन्नयन (Sublimation) कहता है। वास्तव में आप विचारकर देखें, तो ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को स्थूल शरीरधारी व्यक्ति से हटाकर एक सूक्ष्म भाव अथवा अमूर्त्त आदर्श की ओर प्रेरित करना ही तो उन्नयन की क्रिया है। आलम्बन के अमूर्त्त और अतीन्द्रिय होने के कारण उसके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति की सम्भावना न होने से, इस शृङ्गार में शारीरिकता का अंश स्वभावतः अनुपात में कम हो जाता है और बौद्धिक तत्त्व का समावेश हो जाता है। विदेश का 'प्लेटोनिक लव' वास्तव में मनोविज्ञान की शब्दावली में बौद्धिक प्रेम ही है। भारतीय सगुणवाद ने इस बौद्धिकता का प्रबल शब्दों में निषेध किया है। सूर की गोपियाँ कृष्ण के व्यक्तिगत गुण-दोषों का—उनके शरीर का—अनुभव कर चुकी हैं। मीरा झुरमुट में कृष्ण से मिल चुकी है। बौद्धिक तत्त्व के प्रतीक उद्धव का घोर तिरस्कार किया जाता है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधा का एकान्त ऐन्द्रिय रूप चित्रित किया गया है। इस सबका मनोविज्ञान के पास एक ही स्पष्ट उत्तर है; यदि आलम्बन सर्वथा स्थूल और इन्द्रियगम्य बन जाता है और भक्त उसकी सर्वथा उसी रूप में भावना करता है जिस रूप में किसी लौकिक व्यक्ति की, ऐसी दशा में उसकी भक्ति या अपार्थिव प्रेम किसी प्रकार भी पार्थिव प्रेम से मूलतः भिन्न नहीं है—अप्राप्य अथवा केवल मनोस्थित व्यक्ति के प्रति होने के कारण वह अतृप्त है, बस। इसीलिए उसमें मानसिकता तीव्र है, शारीरिकता कुण्ठित है। इसके विपरीत यदि आलम्बन किसी-न-किसी रूप में अपार्थिव रहता है, तो उसके प्रति रति भी किसी-न-किसी रूप बौद्धिक अवश्य होगी। अपार्थिव का अर्थ है विशिष्ट अलौकिक गुणों का प्रतीक, और इन विशिष्ट अलौकिक गुणों को प्रतीक रूप देकर उसके प्रति विश्वास स्थिर करने में बौद्धिक क्रिया अनिवार्य है। अतएव ऐसी स्थिति में, जैसा मैंने पहले कहा, यह अपार्थिव शृङ्गार

रति-भाव और बौद्धिक विश्वास के योग का नाम है। इसमें आलम्बन की स्थूलता के अनुपात से शारीरिकता और गुणों की अलौकिकता के अनुपात से बौद्धिक विश्वास अधिक होगा। कबीर और मीरा की भक्ति में इन्हीं दोनों तत्वों के अनुपात का ही अन्तर है, मूल भावना का नहीं। इस प्रकार सगुणवाद में या तो स्पष्ट रूप से ऐन्द्रिय अनुभूति की महत्त्व-प्रतिष्ठा की गई है—यदि ऐसा है, तो पार्थिव अपार्थिव के अन्तर का प्रश्न ही नहीं रह जाता। या फिर बुद्धि का निषेध एक अतिवाद-मात्र है। उसका अभिप्राय केवल ईश्वर की बुद्धिगम्यता के स्थान पर उसकी मनोगम्यता पर ज़ोर देना ही है—इन्द्रियों को पीछे छोड़कर ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती, यही घोषित करता है। भारतीय सगुणवाद अपने मूल रूप में आनन्द-प्रधान था; परन्तु फ़ारसी सूफ़ी-मत के प्रभाव से उसमें पीड़ा की उत्कटता का भी समावेश हो गया। सारांश यह है कि भक्ति-काल का अपार्थिव प्रेम भारतीय दर्शन की दृष्टि से आत्मा का परमात्मा की ओर सहज उन्मुखी भाव है। यह भाव शुद्ध, अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की और सभी विशेषताएं विद्यमान हैं, परन्तु काम नहीं है। मनस्तत्त्व की दृष्टि से यह पार्थिव-रति का ही उन्नयन है, और यह उन्नयन रति में यत्किंचित् बौद्धिक विश्वास का मिश्रण होने से सम्भव होता है।

रीतिकाल में आकर शृङ्गार फिर शारीरिक धरातल पर उतर आया। रीतिकाल का शृङ्गार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है और न धर्माचरण अथवा सन्तति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र-सम्मत संयोग—वह तो स्पष्ट ही सहज-आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय पर्व है—जिसमें कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं है। वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है, स्वयं अपना साध्य है—यही इस युग की विफलता है। इसी के कारण रीतिकालीन शृङ्गार-भावना प्रेम न होकर विलास रह गई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। उनके शृङ्गार-चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गम्भीरता प्रायः कम मिलती है, विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। घोर सामाजिक और राजनीतिक अधःपतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहारदीवारी में ही अपने को

अभिव्यक्त कर सकता था। घर में इस समय न धर्माचरण था, न शास्त्र-चिन्तन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुँह छिपाकर विसुध-विभोर हो जाता था। इस प्रकार रीति-काल की शृङ्गार-भावनाओं में स्पष्ट रूप से शारीरिक रति—काम की स्वीकृति है। उसमें किसी प्रकार की अतीन्द्रियता या अपार्थिवता के लिए स्थान नहीं है। एकोन्मुख एवं एकाग्र न होने से उसमें उत्कटता एवं तीव्रता भी नहीं है, और मूलतः गृहस्थ-जीवन की परिधि में बँधा होने से रोमानी साहसिकता और शक्ति का अभाव है। यह तो शरीर-सुख और उससे उत्पन्न मन का सुख है, नागरिक जीवन की रसिकता उसका प्राण है, विलास की श्री और समृद्धि उसका अलङ्कार है।

रीतिकाल के उपरान्त हिन्दी में द्विवेदी-युग आया, जो निश्चित रूप से उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। समाज और साहित्य दोनों में ही यह युग सुधार का प्रतीक था। जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध इसमें नैतिकता का आतंक रहा; परन्तु यह नैतिकता अत्यन्त स्थूल थी। तत्कालीन समाज-सुधारकों की भाँति साहित्य के सुधारकों की भी दृष्टि अमनोवैज्ञानिक थी, इसीलिए वह जीवन के बाह्य रूपों से उलझी रही। अतः इस युग की नैतिकता सर्वथा दमन और नियन्त्रण पर ही अवलम्बित थी। शृङ्गार को ये लोग संदेह और भय से देखते थे। उस युग के प्रसिद्ध कवि पं० नाथूराम शङ्कर को इसी आतंक के कारण अपनी सर्वश्रेष्ठ शृङ्गारिक रचनाएँ अग्नि को समर्पित करनी पड़ी थीं। शृङ्गार का सर्वथा बहिष्कार तो कैसे हो सकता था; परन्तु उसको संयत और मर्यादित करने के सभी स्वाभाविक-अस्वाभाविक प्रयत्न किये गए। फिर से शृङ्गार और विवाह के अनिवार्य सम्बन्ध पर जोर दिया गया। आर्यसमाज के प्रभाव-रूप केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही स्त्री का सहगमन आवश्यक ठहराया जाने लगा। सहस्रों वर्ष के अन्तराय की चिन्ता न कर बीसवीं शताब्दी को ज्यों-का-त्यों वैदिक-युग के कल्पित आदर्श में परिणत करने का सुधार-मञ्चों से बड़े जोर से भजनों और उपदेशों के साथ प्रचार हुआ। इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम स्वस्थ नैतिक संयम न होकर नैतिक दम्भ ही हुआ। समाज में बहिनजियों का एक वर्ग खड़ा हो गया, और वृद्ध हरिऔधजी ने बाद

में उदारतापूर्वक उन्हें 'देश-सेविका' और 'समाज-सेविका' नायिकाओं के रूप में रीतिबद्ध भी कर दिया । एक वाक्य में, द्विवेदी-युग का दृष्टिकोण शृङ्गार के प्रति ठीक वैसा ही था, जैसा गुरुकुल के छात्र का आज भी नारी के प्रति है । जीवन और काव्य के रस से वंचित इस युग ने जो नारी-चित्र दिये, वे उसी के अनुकूल नैतिक दम्भ से पीड़ित, अक्खड़ और नीरस हैं ।

जीवन का यह स्थूल दर्शन, जीवन के स्थूल मूल्यों के प्रति यह अस्वाभाविक आग्रह अधिक नहीं चल सकता था, और समय पर इसके विरुद्ध भी अत्यन्त तीव्र प्रतिक्रिया हुई । गत यूरोपीय महा-समर के उपरान्त युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई । पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असंतोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी; परन्तु राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं । निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं । छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएं प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं । स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था; परन्तु सुधार-युग की नैतिकता से सहमकर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था । समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएं अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं । निदान वे अवचेतन में उतरकर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं । और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृङ्गार । छायावाद का अतीन्द्रिय शृङ्गार दो प्रकार से व्यक्त होता है । एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा—प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा, दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य के अंकन द्वारा, अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा ।

छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहमकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं।

समय ने फिर पलटा खाया। विचार-धारा में परिवर्त्तन होने लगा। गांधीजी की अहिंसा से मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद टकराया। शृङ्गार-चेतना भी उसके साथ बदली। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार समझा जाता था; परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक नहीं, अहितकर भी माना जाता है। फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़कर उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया है। क्षुधा और काम जीवन की मुख्यतम प्रवृत्तियाँ हैं। उनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति जीवन के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है, उनका दमन, गोपन अस्वाभाविक है और उनको अतीन्द्रिय रूप देना मन की छलना है।

प्रगतिवाद का तत्त्वतः शृङ्गार के प्रति यही दृष्टिकोण है। परन्तु अभी उसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए उचित सामाजिक वातावरण तैयार नहीं है। अभी दमन, संकोच और कुण्ठा का आतंक है। इसीलिए आज का प्रगतिवादी या तो विषयान्तर से अभी भी कुण्ठा का शिकार है, अर्थात् उसकी भावना मन की रानी को छोड़ मजदूरिन के अंगों से लिपटती है, या फिर वह वासना से लथपथ अतिरंजित वीभत्स चित्र उपस्थित कर रहा है। भावना के स्वास्थ्य का वह अभी आने को है, जब हम यह कह सकें कि—

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन,
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर!
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान!
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण?

अभी तो हम कह ही रहे हैं, हमारी भावना इतनी स्वस्थ नहीं हो पाई कि ऐसा कर भी सकें।



: पाँच :

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझ पर अनेक आरोपों के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य में सामाजिक गुणों का विरोध करता हुआ अहंवाद का पोषण करता हूं।—आज उसी को लेकर जब मैं आत्म-निरीक्षण करने बैठता हूं तो एक प्रश्न मेरे मन में अनिवार्यतः उठता है:—साहित्य का मूल धर्म क्या है? और अनेक पण्डित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है: 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूं, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्वों का ही अस्तित्व अंत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्‌भूति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियां हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का संबन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है

चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े बहुत पारिभाषिक अंतर से इन्हें ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इदं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु-रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूं वह कर रहा हूं—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसंवेदन या आस्वादन कर रहा हूं। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नहीं रखता— जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता, उसका अस्तित्व संवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का संबन्ध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का संबन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

सरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का

मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है ? सो, जहाँ तक लेखक का संबन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभि-व्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभि-व्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ-जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता, आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यंत आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हो) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—यह

यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएं हैं—अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा संभव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही संभव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेंद्रकुमार से बात-चीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-सर्जन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)* के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। जैनेंद्रजी के चिंतन पर गाँधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्म-पीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दा-वली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहं-कार का पूर्ण विसर्जन होकर अंत में अत्यंत सूक्ष्म रीति से अहं—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, संपूर्ण आत्म-समर्पण की संभावना है इसमें संदेह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन वैष्णव-साहित्य की अत्यंत परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को को प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ

* जैनेन्द्र जी दोनों का पर्याय रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

अंत में फिर इसे आत्म-लाभ कर लेता है । आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है । यहाँ अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है । इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है । यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्न-पूर्वक वह आत्म-दान नहीं करता—परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती, हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं ।*

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए : लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात समाज के लिए क्या उपयोग है ? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है । यह परिष्कृत आनन्द उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है । इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है । हिन्दी की रीति-कविता को ही लीजिए—

* परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टि-गत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टि-गत प्रेम नहीं है । इसमें आत्म-प्रवञ्चना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं । देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं, और एक साधारण, अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है । इसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म-साक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं । किसी बृहत् आंदोलन को लेकर खड़े होने वालों की स्थिति इससे भी अधिक जटिल है—क्योंकि उसमें सिद्धांत की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का स्रोत भी अधिक रहता है ।

आज इसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है? बड़े-बड़े लोक-नायकों ने अपने संघर्ष-क्लांत मनों को इसी की संजीवनी से सरस किया है। लेनिन-जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभि-व्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतंत्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत पर-पराएं दीं उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नहीं है, लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्मा-

भिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। क्योंकि निश्छलता का सात्त्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यंत सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़ समाज सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत-कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत-कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज़ में शक्ति है। और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक गुण नहीं है, अनिवार्यतः उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अंग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति; इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए संभव है जिसका आत्म महान् हो। जब तक इसका अहं महान् अर्थात् उन्नत, व्यापक और गम्भीर नहीं है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अहं का यह उन्नयन, विस्तार और गांभीर्य व्यष्टि के वृत्त से निकलकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत कुछ संभव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य्य लक्षण है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का

गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात उसका विस्तार और गांभीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अंत में बहुत कुछ समष्टि-गत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से, बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखंड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ, इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखंड मानव-चेतना ने तुरंत ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है' यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहाँ अखंड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें, परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है, उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का संबन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का संबन्ध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अंतर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।



: ६ :

टी. एस. इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद

'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' शीर्षक लेख लिख चुकने के थोड़े ही दिन बाद एक निज स्थानीय शनिवार-समाज में टी० एस० इलियट के अव्यक्तिवादी काव्य-सिद्धांत पर बहस छिड़ गई। इलियट के प्रायः मुख्य-मुख्य सभी आलोचनात्मक निबन्धों को मैं कई वर्ष पूर्व पढ़ चुका था, और उनकी संगठित विचार-धारा का मेरे मन पर बहुत-कुछ प्रभाव वर्तमान था। वास्तव में उनके काव्य की अपेक्षा उनकी आलोचना ने ही मुझे सदैव अधिक प्रभावित किया है। परन्तु उनके इस मूल सिद्धान्त को मैं न तो कभी पूरी तरह ग्रहण ही कर पाया हूं और न स्वीकार ही। तब भी इलियट की धारणाओं को मन में उजागर करने के लिए मैंने उनके निबन्धों का अत्यन्त जिज्ञासु भाव से पूर्वाग्रह से मुक्त होकर एक बार फिर मनन किया जिससे कि उनका आशय समझने में कोई त्रुटि न रह जाय। अस्तु।

काव्य के स्रष्टा और आलोचक दोनों ही रूपों में आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत इलियट का अन्यतम स्थान है—उन्होंने साहित्य में रोमानी-भावगत मूल्यों के विरुद्ध प्राचीन—वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। काव्य में अव्यक्तिवाद का यही सिद्धान्त साहित्य-शास्त्र के प्रति उनका अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्व-पूर्ण योग है। विवेचना करने से पूर्व इलियट की विचार-धारा की भूमिका पर इसकी व्याख्या कर लेना केवल उचित ही नहीं अनिवार्य भी है।

इलियट के काव्य-सिद्धान्तों का सार-संग्रह हमें उनके प्रसिद्ध निबन्ध

'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' × में मिल जाता है। जीवन और साहित्य दोनों में उनका दृष्टिकोण स्थिर परम्परावादी है—धर्म में वे कैथोलिक हैं—राजनीति में राजभक्त, और साहित्य में पुरातनवादी। उनकी दृष्टि में किसी एक काल अथवा किसी एक व्यक्ति का साहित्य अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, सम्पूर्ण साहित्य अखंड रूप है जिसमें परम्परा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। अतीत और वर्तमान इसी अखण्ड परम्परा में अनुस्यूत हैं—अतीत का तो वर्तमान पर प्रभाव पड़ता ही रहा है, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। अपने पूर्ववर्ती के संस्कारों का उत्तराधिकारी होने के कारण वर्तमान उसका जन्मजात है। यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु अपने नवोद्भूत अस्तित्व के लिए अतीत की श्रृंखला में स्थान बनाता हुआ वह उसमें परिवर्तन भी तो करता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान अपृथक् ही हैं। इसी परम्परा का निर्भ्रान्त ऐतिहासिक ज्ञान प्रत्येक कवि और आलोचक के लिए अनिवार्य है+। उसमें अतीत की अतीतता को ही नहीं वरन् उसके वर्तमान अस्तित्व को भी हृदयगत करने की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि किसी भी कवि का सन्देश अपने में पूर्ण नहीं है—उसका महत्त्व स्वतन्त्र नहीं है, × उसको समझने के लिए उसका पृथक् अध्ययन आवश्यक नहीं है, आवश्यक यह है कि उसको उसके पूर्ववर्ती कवियों की श्रृंखला में रखकर समझा जाय—उनसे उसका क्या सम्बन्ध है, इस बात को स्पष्ट रूप से हृदयगत किया जाय। कवि के लिए अपनी चेतना का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसको समाज, जाति और देश की अखंड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह जातीय चेतना सतत विकासशील है, काव्य या कला के प्राचीन या नवीन सभी प्रस्फुटन इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने अतीत की निर्भ्रान्त चेतना होनी चाहिए। और उसे इस चेतना का जीवन-भर विकास करना चाहिए। इस प्रकार उसे परम्परा के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का उत्सर्ग करना पड़ता है। ÷ कलाकार का विकास वास्तव में आत्मोत्सर्ग का, आत्म-निषेध का एक अनवरत प्रयत्न है। इस विवेचन के उपरान्त इलियट एक साथ

× Tradition and Individual talent.

+ वही पृष्ठ १४, × पृ० १५, ÷ पृ० १७

अपने प्रसिद्ध अव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना कर देते हैं :—साहित्य (काव्य) आत्म की अभिव्यक्ति नहीं वरन् आत्म से पलायन है। साधारण व्यावहारिक-नैतिक अर्थ में यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि और साहित्यकार भी है। सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति ही समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक-से-अधिक भावों और संवेदनाओं के समन्वय का अधिक-से-अधिक सफल माध्यम बन सके। सफल कवि में दूसरों की अपेक्षा विचार, संवेदन, संग्राहकता आदि की शक्ति का आधिक्य अनिवार्य नहीं है—उसके लिए कला-सृजन की प्रेरणा और उसके प्रभाव में भावों और संवेदनाओं को समन्वित करने की शक्ति ही अनिवार्य है। कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एवं निर्विकार रहता है—जैसा कि किसी किसी रासायनिक क्रिया में होता है। ★उदाहरण के लिए आक्सीजन और सलफ़र डायोक्साइड से भरे किसी कमरे में अगर आप प्लेटीनम का एक तन्तु डाल दें तो वे दोनों तो सलफ़र-एसिड में परिवर्तित हो जायंगे—परन्तु प्लेटीनम के तन्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं आयगा। कवि का मन इसी प्लेटीनम तन्तु के समान है जो उसकी अनुभूतियों को प्रभावित और समन्वित करता हुआ भी स्वयं निर्विकार रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जितना ही अधिक सफल होगा उतना ही अधिक उसके भोक्ता और स्रष्टा रूपों में अन्तर होगा। और उतनी ही अधिक सफलता से उसका मन सामग्री रूप में प्राप्त भावों और अनुभूतियों का ग्रहण कर उनको कलारूप में परिवर्तित कर सकेगा। संक्षेप में इलियट की मान्यताएं इस प्रकार हैं :—

१—कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृति दो भिन्न वस्तुएं हैं। भोक्ता मन और स्रष्टा मन में स्पष्ट अन्तर है। दोनों को किसी भी रूप में एक कर देना भ्रामक है।

२—व्यक्तिगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं, काव्य

★ पृष्ठ १८

में हमें व्यक्तिगत अनुभूति न मिलकर काव्यगत भाव ही प्राप्त होता है। काव्यगत भाव की सृष्टि के लिए यह भी अनिवार्य नहीं है कि स्रष्टा ने उसके भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। काव्यगत भाव अनेक प्रकार के संवेदनों और अनुभूतियों का समन्वय होता है, जिसके मूल में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं वरन् कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा ही सदैव वर्तमान रहती है।

३—कला-सृजन के समय कलाकार तटस्थ रहता है—सृजन-प्रेरणा के फलस्वरूप उसकी धारणाएं, संवेदनाएं तथा अनुभूतियाँ उसके मन में समन्वित हो जाती हैं। ऐसा आप-से-आप एक विचित्र और अप्रत्याशित रीति से होता है।

४—इस प्रकार कलाकार विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक माध्यम-मात्र है। वह कला में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् उसका दमन, उत्सर्ग अथवा निषेध करता है।

विवेचन

इलियट के उपर्युक्त सिद्धान्त आधुनिक साहित्य की अतिव्यक्ति-वादी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं—मुझे स्मरण है कि अपने एक लेख में उन्होंने यह शिकायत की है कि आधुनिक आलोचना दर्शन है, विज्ञान है, मानव-शास्त्र है, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि तो सब-कुछ है, परन्तु साहित्य बहुत कम रह गई है। इसमें संदेह नहीं कि मनोविश्लेषण के अनुसन्धानों के फल-स्वरूप आधुनिक आलोचना में कलाकार के व्यक्तित्व ने कृति को एक प्रकार से पूर्णतः आच्छादित कर दिया है—ऐसी आलोचनाओं में आलोचक कृति को तो एक ओर रख देता है और प्रतीकों के काँटे फेंककर कलाकार के मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न करता रहता है। इलियट ने इस अतिवाद के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई है, और मैं समझता हूं कि उनका यह विरोध काफ़ी हद तक ठीक भी है। आलोचक अपने मूल रूप में एक विशेष रस-ग्राही पाठक ही तो है, और उसकी आलोचना उस रस को सहृदय-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। यदि आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना अधिक उलझ जाता है कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो

जाती है, तो उसकी आलोचना किसी मनोविश्लेषण-ग्रन्थ का एक अध्याय तो हो सकती है, परन्तु काव्यालोचन की दृष्टि से वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाती है। यहाँ तक तो उनका आक्षेप संगत है, और वास्तव में मनोविश्लेषण की रौ में कला-कृति का महत्त्व जिस प्रकार कहा जा रहा था वह अनिष्टकर था—उसको फिर से स्थिर कर इलियट ने साहित्य का निश्चय ही उपकार किया है। परन्तु इसके आगे जब वह कलाकृति को रचयिता के व्यक्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र घोषित कर देते हैं, वह ज्यादती है। इलियट एक अतिवाद का निषेध करते हुए स्वयं एक दूसरे अतिवाद के दोषी बन जाते हैं। शेक्सपियर के सॉनेट का अध्ययन छोड़कर मेरी फ़िटन विषयक कल्पनाओं में फंस जाना अनुचित है, परन्तु इस प्रकार के अनुसन्धानों का यदि उचित सीमा के भीतर उपयोग किया जाय तो इन कविताओं के अध्ययन में निश्चय ही सहायता मिलेगी। इस प्रकार इनकी काव्यगत अनुभूतियों का बिम्ब-ग्रहण अधिक पूर्ण होगा, और उसी के अनुपात से रसानुभूति में भी अधिक सहायता मिलेगी।

परन्तु मेरी उपर्युक्त युक्ति इलियट के सिद्धान्तों के लिए अप्रासंगिक है, वे तो स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर चुके हैं कि जीवनगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न हैं, और यह भी सम्भव है कि कलाकार ने अपने जीवन में उसके मौलिक रूप का अनुभव ही न किया हो। यह प्रश्न मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है, इसका उत्तर देने लिए हमें इलियट के मत के विरुद्ध काव्य की परिधि से बाहर जाना पड़ेगा। जीवनगत भाव और काव्यगत भाव में स्पष्ट अन्तर है इसमें तो कोई संदेह नहीं —संस्कृत साहित्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही इसको स्वीकार करते हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष मौलिक भाव और काव्य-गत भाव+ में एक स्पष्ट अन्तर तो यही है कि मौलिक भाव का आस्वाद सुखमय और दुःखमय दोनों ही प्रकार का हो सकता है, परन्तु काव्यगत 'भाव', जो अपनी पूर्णावस्था में रस-रूप में परिणत हो जाता है अनिवार्यतः सुखमय ही होता है। इसका कारण यह है कि काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह काव्यगत

+ पारिभाषिक अर्थ में

अनुभूति भौतिक अनुभूति का परिभावित* रूप है, जिसमें कल्पना तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का अनिवार्य मिश्रण रहता है। इसलिए अन्तर तो सर्वथा असंदिग्ध है, परन्तु इसके आगे यह कहना कि दोनों कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते, असत्य है। शाकुन्तलम् में अङ्कित दुष्यंत और शकुन्तला की रति भौतिक रति से अवश्य ही भिन्न है—परन्तु शाकुन्तलम् की रसानुभूति का मूल इस लौकिक रति में ही है—कल्पना और बुद्धि-तत्त्व का मिश्रण हो जाने से इसमें अन्तर अवश्य पड़ गया है, परन्तु दोनों के आस्वादन में सूक्ष्म मूलगत समानता है। यही बातें करुण काव्य के लिए भी उतनी ही सत्य हैं। करुण काव्य का काव्यगत भाव अथवा रसानुभूति मधुर होती है, पर उसका भौतिक रूप निश्चय ही कटु होता है; किन्तु फिर भी दोनों का मूलगत सम्बन्ध असंदिग्ध है। करुण और शृङ्गार रसों के आस्वादन का स्पष्ट अन्तर इसका प्रमाण है—उदाहरण के लिए एक ओर शाकुन्तलम् को पढ़कर और दूसरी उत्तर रामचरित को पढ़कर जो रसानुभव होता है उसमें भेद है—एक में हर्ष, उल्लास की मात्रा अधिक है, दूसरे में गम्भीरता है। यह अन्तर उनके आधारभूत भौतिक तत्त्वों का ही परिणाम है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह आधार-भूत भौतिक भाव किसका है? इसका समाधान करने के लिए संस्कृत आचार्यों में बड़ा विवाद रहा है, और अन्त में वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्य आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर रस में परिणत होता है। इसमें संदेह नहीं कि अन्त में सहृदय अपने भाव का ही आस्वादन करता है, परन्तु जैसा कि मैंने 'रस की स्थिति' शीर्षक लेख में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है, इस भाव की मूल-प्रेरणा कवि का अपना भाव ही है जिसे वह काव्य द्वारा सहृदय तक प्रेषित करता है। शाकुन्तलम् में दुष्यंत और शकुन्तला की रति साधारणीकृत रूप में मिलती है, परन्तु यह साधारणीकरण आखिर है किसका? दुष्यंत और शकुन्तला व्यक्तियों की रति का तो है नहीं, क्योंकि वह तो उनके साथ समाप्त हुई—निश्चय ही यह कवि की अपनी विशिष्ट रति-भावना का ही साधारणीकरण है जिसे उसने दो ऐतिहासिक व्यक्तियों के माध्यम से प्रेषित किया है।—अतएव काव्य-

* Contemplated

गत भाव और मौलिक भाव में निश्चय ही पल्लव और बीज का सम्बन्ध है, और यह मौलिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।

यहीं इलियट की प्रासंगिक उपपत्ति को भी ले लिया जाय। वे कहते हैं कि कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसने काव्य-गत 'भाव' के मौलिक रूप का अनुभव किया ही हो। वास्तव में इस प्रकार की शंका साहित्य के अध्ययन में अनेक बार पाठक के मन में उठती है: क्या शेक्सपियर रोमियो, हैमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, फ़ालस्टाफ़, क्लयोपेट्रा आदि सभी पात्रों की मानसिक स्थिति में होकर गुज़रा था? बाबा तुलसीदास बेचारे ने तो युद्ध कभी देखा भी न होगा, लड़ने की तो बात ही क्या? फिर कैसे मान लिया जाय कि कवि काव्यगत भाव के मौलिक रूप का अनुभव करता ही है। इसका उत्तर संस्कृत आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है—उसने कवि को अनिवार्यतः 'सवासन' माना है—'सवासन' का अभिप्राय यह है कि एक अत्यन्त विस्तृत भाव-कोष वासना रूप में अर्थात् संस्कार रूप में उसके अधिकार में रहता है। 'वासना' और 'संस्कार' शब्दों का सम्बन्ध आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन मन से है। तुलसीदास ने युद्ध न किया हो, परन्तु युद्ध के मूल-भाव—युयुत्सु-संस्कार—तो उनके अन्दर वर्तमान थे ही—और जीवन में अनेक बार उन्होंने उद्‌बुद्ध रूप में उनका अनुभव किया होगा। युद्ध के वर्णन के लिए वातावरण और युद्ध-सामग्री आदि तो सर्वथा गौण हैं—उनका संचय तो कल्पना कर सकती है। उसका प्राण तो उत्साह, क्रोध और संचारी भाव ही हैं—

पाद-टिप्पणी—संस्कृत साहित्य-शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में रस की स्थिति के विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न हुए थे—कोई उसे मूल पात्रों में मानता था, कोई नट-नटी में—किसी-किसी ने काव्य-वस्तु में भी माना। उसी विचार-शृङ्खला को यदि आगे बढ़ाया जाय तो इलियट काव्य (या कला) का सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हुए रस की स्थिति स्वयं काव्य (या कला) में ही मानते मालूम पड़ते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त लोल्लट, शंकुक और भट्ट नायक के सिद्धान्तों से भी अधिक भ्रान्तिपूर्ण है।

जिनका अनुभव तुलसीदास को निस्संदेह रहा ही होगा। यही बात शेक्सपियर के लिए या किसी के लिए भी कही जा सकती है।

काव्यगत भाव को इलियट ने अनेक प्रकार की संवेदनाओं, अनुभूतियों आदि का समन्वय माना है, जो कला-सृजन के दबाव से आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से घटित हो जाता है। जहाँ तक इस सिद्धान्त के पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध है, वह कुछ-कुछ क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से मिलता-जुलता है—क्रोचे की सहजानुभूति भी, जो कला का मूल रूप है, अरूप संवेदनों और अस्पष्ट अनुभूतियों का ही समन्वय है। परन्तु क्रोचे जहाँ सहजानुभूति को मन की एक विशिष्ट शक्ति की सहज क्रिया मानते हैं, वहाँ इलियट इसे आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से होने वाली एक घटना मानते हैं। वैसे तो क्रोचे की सहजानुभूति भी आज मनोविज्ञान को मान्य नहीं है, परन्तु इलियट की यह स्वतःसम्भवा अप्रत्याशित घटना तो सर्वथा अवैज्ञानिक है। यहाँ वे भी सिद्धान्त की कार्य-कारण रूप में व्याख्या न कर अनिश्चित शब्दावली की शरण ले रहे हैं जैसे कि संस्कृत के आचार्य ने 'अनिवर्चनीय' की शरण ली थी। इस अप्रत्याशित घटना को इलियट ★ 'कला-सृजन' की प्रेरणा का परिणाम मानते हैं। यह 'कला-सृजन' की प्रेरणा भी इलियट की नवीन उद्भावना नहीं है—योरोप के साहित्य-शास्त्रियों में ※'सृजन-प्रेरणा'की चर्चा काफ़ी दिनों से और काफ़ी ज़ोरों से चलती आ रही है। परन्तु अन्तर केवल यही है कि 'सृजन-प्रेरणा' में जहाँ अनिवार्य रूप से व्यक्ति-तत्व की प्रधानता रही है—वहाँ इलियट ने अपनी इस प्रेरणा या दबाव को सर्वथा वस्तुगत माना है। उनका सिद्धान्त है कि यह दबाव वस्तु-रचना का पड़ता है—परन्तु वस्तु-रचना रचयिता के व्यक्तित्व से निरपेक्ष किस प्रकार हो सकती है? साधारण दस्तकारी में भी जहाँ रचना-प्रक्रिया सर्वथा यांत्रिक है, रचयिता के व्यक्तित्व का स्पर्श बचाया नहीं जा सकता—फिर कला जहाँ सम्पूर्ण प्रक्रिया ही मानसिक है, व्यक्ति-तत्व से अस्पृष्ट कैसे रह सकती है? इसमें संदेह नहीं कि स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने श्रेष्ठ कला के लिए यह आवश्यक एवं उपयोगी माना है कि कलाकार

★ Artistic Pressure
※ Creative urge

अपने ही में सदा न खोया रहे। परन्तु इस विषय में मुझे दो निवेदन करने हैं—एक तो यह कि उपर्युक्त सिद्धान्त कला के सभी रूपों पर लागू नहीं हो सकता—उदाहरण के लिए तुलसी, सूर और मीरा के आत्म-निवेदन, इधर बच्चन आदि नवीन गीतकारों की आत्माभिव्यक्तियों का महत्त्व प्रत्यक्षतः कवि के आत्मतत्व के ही कारण है। वास्तव में गीत-काव्य का प्राण ही आत्म-तत्त्व है। इलियट के कठोर-से-कठोर शास्त्र-प्रहार शैली के गीतों का गौरव नहीं घटा सकते। दूसरे यह कि जहाँ वस्तु की प्रधानता रहती है (जैसे नाटक, ऐतिहासिक काव्य आदि में) वहाँ भी व्यक्तित्व का अभाव किसी प्रकार नहीं होता। वस्तु के निर्माण में, घटनाओं के संगठन तथा पात्रों के अङ्कन में पद-पद पर कलाकार के व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी रहती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को व्यक्ति-प्रधान और वस्तु-प्रधान इन दो रूपों में विभक्त करते हुए तुलसीदास के काव्य को वस्तु-प्रधान होने के कारण अधिक गम्भीर और श्रेष्ठ माना है। उन्होंने अनेक प्रकार से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि तुलसीदास का गौरव इसी बात में है कि उन्होंने व्यक्तिगत राग-द्वेषों से तटस्थ होकर राम के मंगलकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। परन्तु इस रूप की प्रतिष्ठा करने में तुलसी ने अपने जीवन आदर्शों का ही तो प्रतिफलन किया है—राम का यह लोक-मंगलकारी रूप तुलसी के अपने उच्चतर-रूप (Super Ego) का ही तो प्रक्षेपण है। वास्तव में मनुष्य की कोई भी क्रिया उसके अहं के चेतन अथवा अव-चेतन स्पर्श से किस प्रकार मुक्त हो सकती है। जिन रचनाओं में चेतन व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता [यद्यपि ऐसा भी बहुत कम होता है] उनमें अवचेतन का प्रभाव होता है और अवचेतन जैसा कि अब प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है, चेतन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस प्रकार सृजन-प्रेरणा का साधारण आत्माभिव्यक्तिमय रूप तो स्पष्ट है—[सृजन हमारा अपना ही तो पुनर्जन्म है], परन्तु व्यक्ति से निरपेक्ष, इलियट की यह कला-सृजन की प्रेरणा, सर्वथा अवैज्ञानिक कल्पना है। कहने का तात्पर्य है कि इलियट का यह कहना तो ठीक है कि काव्यगत भाव अनेक प्रकार के संवेदनों तथा अनुभूतियों आदि का समन्वय है—और यह

भी ठीक है कि यह मस्तिष्क की सचेतन-क्रिया नहीं है ! सृजन के क्षणों में कलाकार का मन अर्ध-समाधि की अवस्था में होता है। परन्तु जब वे 'कला-सृजन के दबाव' और 'अप्रत्याशित, स्वतः सम्भवा रीति' आदि की बात व्यक्ति से निरपेक्ष होकर करते हैं तभी गड़बड़ कर जाते हैं। वास्तव में उनकी इस उलझी शब्दावली की व्याख्या अवचेतन मन के सम्बन्ध से बड़ी सरलता से की जा सकती है। जिसे वे कला-सृजन का दबाव कहते हैं, वह अवचेतन-मन में पड़े हुए उन संस्कारों का दबाव है, जो अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर अभिव्यक्ति के लिए मचल उठते हैं। और चूँकि चेतन मन उनको पूरी तरह पहचानता नहीं है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का ढंग उसे अप्रत्याशित और अकारण-सा लगता है। इसी के साथ इलियट की यह सहकारी प्रतिज्ञा भी खण्डित हो जाती है कि कलाकार व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है, जिसमें कला-सृजन की प्रेरणा के दबाव से अनेक प्रकार के संवेदनों, अनुभूतियों आदि का समन्वय घटित होता है। यहां आप देखिये कि उन्होंने कृतित्व को कलाकार से छीनकर 'कला-सृजन की प्रेरणा' पर आरोपित कर दिया है। परन्तु जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, यह केवल शब्दों का हेर-फेर है—यह प्रेरणा भी कलाकार के व्यक्तित्व (अवचेतन) से ही सम्भूत होती है। जिसे वे व्यक्तित्व से पलायन कहते हैं वह मनोविश्लेषण-शास्त्र में अवचेतन की एक नित्य घटना है। मनुष्य की वृत्तियां प्रायः चेतन से मुँह छिपाकर अवचेतन में शरण लेती हैं, और वहां जाकर संस्कार बनकर अपना रूप बदल डालती हैं। वास्तव में जीते जी न तो व्यक्तित्व से पलायन ही सम्भव है और न उसका निषेध ही। जब तक जीवन है तब तक अहं अनिवार्य रूप से वर्तमान रहेगा। कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक प्रयत्न उसका निषेध नहीं कर सकता।

इलियट के साथ आरम्भ में ही एक दुर्घटना हो गई है—वह यह कि [जैसा उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है] वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने बैठे हैं। साधारणतः काव्य-शास्त्र मनोविज्ञान और दर्शन नहीं है, परन्तु जहाँ चरम सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा वहां केवल काव्य-शास्त्र

ही नहीं जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन और मनोविज्ञान को दूर कैसे रख सकता है ? इलियट के प्रतिपादन में जो संगठित और प्रौढ़ विचार-धारा का योग होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट असंगतियाँ और भ्रांतियाँ आ गई हैं, उनका कारण यही है कि उनका आरम्भ ही ग़लत हुआ है।



: सात :

हिन्दी में हास्य की कमी

(एक संवाद)

नगेन्द्र—आइये प्रो० साहब, नमस्ते !

प्रो०—नमस्ते, नगेन्द्र जी ! कहिए क्या हो रहा है ?

नगेन्द्र—कुछ नहीं—हास्य पर फ्रांसीसी लेखक बर्गसाँ की यह पुस्तक पढ़ रहा था।

इन फ्रांसीसी लेखकों की दृष्टि कितनी पैनी और साफ़ होती है। मैं समझता हूं साहित्यिक हास्य का ऐसा निर्मल विवेचन और किसी दार्शनिक या आलोचक ने नहीं किया।

प्रो०—वास्तव में फ्रान्स का आलोचना-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। अच्छा क्या कहते हैं आपके बर्गसाँ ?

नगेन्द्र—बर्गसाँ ने हास्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया उन्होंने 'हम क्यों हँसते हैं ?' इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हुए हास्य की परिस्थिति और प्रकृति का विश्लेषण किया है। उनके कुछ निष्कर्ष अत्यन्त रोचक और सटीक हैं—उदाहरण के लिए (१) हास्य सर्वथा मानवीय वृत्ति है। मानव जीवन से बाहर उसकी गति नहीं है (२) हास्य के लिए भावुकता और उद्वेग का सर्वथा अभाव अनिवार्य है—हास्य और भावुकता एक दूसरे के शत्रु हैं। (३) हास्य एक सामाजिक वृत्ति है—किसी प्रकार की भी असामाजिकता हास्य को जन्म दे सकती है। इत्यादि ! इस विवेचन के फलस्वरूप वास्तव में बर्गसाँ भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस पर विदेश के अन्य आलोचक पहुँचे हैं।

प्रो०—अर्थात् ।

नगेन्द्र—अर्थात् हास्य की मूलात्मा असंगति है !

प्रो०—यह तो हमारे आचार्यों का भी मत है । उनके अनुसार विकृत आकार, वाणी वेश और चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार वे विकृति को हास्य का मूल तत्त्व मानते हैं । और यह विकृति आपकी असंगति ही तो है । वेश, आकार आदि की हमारे मन में जो धारणा बनी हुई है उसमें, और किसी व्यक्ति या वस्तु के वेश आकार आदि में, असंगति देखकर हमारे मन में गुदगुदी पैदा हो जाती है । यही बात वाणी, व्यवहार आदि सूक्ष्मतर वस्तुओं के लिए भी कही जा सकती है ।

नगेन्द्र—हाँ, खींचतान कर बात तो ठीक बैठ ही जाती है । पर प्रोफ़ेसर साहब हमारे यहाँ हास्य रस का कितना अभाव है । विशेष कर हिन्दी में तो इसका घोर दुष्काल है । मैं प्रायः सोचता हूं कि इसका क्या कारण है ? हमारा साहित्य काफ़ी समृद्ध है—परन्तु हास्य एक तो है ही बहुत कम और जो है भी वह बड़ा स्थूल है ।

प्रो०—नगेन्द्र जी, कुछ तो लोगों का प्रोपेगैण्डा भी है—हिन्दी का सभी हास्य स्थूल नहीं है । उदाहरण के लिए सूर में जितना सूक्ष्म हास्य है उतना आपके अच्छे-अच्छे हास्य-लेखकों में भी नहीं मिलेगा । फिर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ उत्कृष्ट हास्य का अत्यन्त अभाव है । पुराने कवि पुरस्कार-दाताओं की कृपणता आदि का मज़ाक उड़ाकर या फिर हास्य रस के उदाहरण-स्वरूप कुछ निर्जीव छंद लिखकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर बैठे हैं ।

नगेन्द्र—बात तो आपकी ठीक है—वास्तव में जो थोड़ा-बहुत हास्य हमारे यहाँ है भी वह अत्यन्त कृत्रिम है । स्वस्थ जीवन का सहज प्रोल्लास न होकर ऐसा मालूम पड़ता है कि वह दूसरों को हँसाने के उद्देश्य से लिखा गया है । यूरोप में व्यंग्य, (Satire), वक्रोक्ति (Irony) विदग्धता (Wit), और हास्य (Humour) चारों में सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट अन्तर माना गया है,—हास्य शेष तीनों से अपनी निर्मलता के कारण पृथक है ! व्यंग्य सदा सोद्देश्य होता है—उपहास के द्वारा ताड़ना इसका अभिप्राय होता है । वक्रोक्ति में चुभने वाली कटुता होती है, विदग्धता बुद्धि के चमत्कार पर आश्रित रहती है । परन्तु हास्य स्वस्थ

मन का सहज उच्छलन होता है—उद्देश्य, कटुता आदि से पूर्णतः मुक्त। हिन्दी में इन चारों को उलझा दिया गया। हास्य के अन्तर्गत ये सभी खप जाते हैं। वैसे हिन्दी में हास्य के नाम पर प्रायः व्यंग्य ही अधिक चलता है। हँसने का उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार की सुधार-भावना लिये रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म-चेता लेखकों ने वक्रोक्ति (Irony) का भी सुन्दर प्रयोग किया है। परन्तु जिसे हास्य, निर्मल और शुद्ध, कहा गया है उसके तो शायद दो चार उदाहरण ही ढूँढ़ने को मिलें। मैं प्रायः सोचा करता हूं कि हास्य का यह दुष्काल क्यों है। आखिर इसका कारण क्या है ?

प्रो०—कारण स्पष्ट है। हिन्दी को उत्तराधिकार में जो साहित्यिक परम्पराएं मिली हैं, उनमें ही हास्य का दैन्य रहा है। हिन्दी ने अपनी सब साहित्यिक परम्पराएं संस्कृत से प्राप्त की हैं। और संस्कृत में स्वयं हास्य का अभाव है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में हास्य को हीनतर रसों में माना गया है: श्रृङ्गार, करुण, वीर और शान्त को जो महत्त्व मिला है उसका एक अंश भी हास्य को नहीं मिला। गम्भीर कवियों ने तो उसको स्पर्श ही नहीं किया—और जिन्होंने किया भी है उनका हास्य सर्वथा रूढ़ और स्थूल है। कालिदास जैसे परिष्कृत-रुचि और सूक्ष्म चेता कवि का हास्य भी इसी कोटि का है। शाकुन्तलम् जैसे नाटक का विदूषक भी भोजन अथवा भीरुता आदि की बातें कहकर हँसने-हँसाने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भिक नाटकों में तब भी हास्य का थोड़ा बहुत स्पर्श था—बाद में वह भी लुप्त हो गया! संस्कृत के उत्तर काल में आकर अलङ्कार की जकड़बन्दी और श्रृङ्गार के नग्न नृत्य के बीच साहित्य के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व और रस भी तिरोहित हो गये—हास्य तो पहले से ही उपेक्षित था। साहित्य के विकास का प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही क्रम रहा। हिन्दी साहित्य का विकास सीधा इसी परम्परा से हुआ—अतएव उसमें हास्य का जन्म से ही अभाव रहा।

नगेन्द्र—लेकिन संस्कृत में भी हास्य का ऐसा अभाव क्यों है—इसका भी तो कारण होना चाहिए। आपके कहने का शायद तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य-परम्पराएं हास्य के अनुकूल नहीं हैं! पर क्यों ?

प्रो०—प्रत्येक देश और जाति की अपनी प्रकृति और प्रतिभा होती है--भारतीय प्रकृति और प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर है।

नगेन्द्र--नहीं साहब, यह भी स्वयं कार्य है, कारण नहीं है। कारण ढूँढने के लिए हमें भारतीय जीवन-दर्शन का विश्लेषण करना पड़ेगा। भारतीय दृष्टि सदैव भेद में अभेद देखती रही है—द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य रहा है। यों तो समय-समय पर यहाँ अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई है जो एक दूसरे के विरोधी रहे हैं, फिर भी गहरे में जाकर देखने से अद्वैत भावना प्रायः सभी में मूल रूप से अनुस्यूत मिलती है। वास्तव में अनेकता में एकता की प्रतीति---भेद में अभेद की प्रतीति के बिना पूर्ण आस्तिकता की स्थिति सम्भव नहीं है। परन्तु आप देखेंगे कि यह जीवन-दृष्टि हास्य के एकान्त प्रतिकूल पड़ती है। हास्य के लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है। अभी मैंने विदेश के आचार्यों की चर्चा करते हुए कहा था कि वे प्रायः सभी असंगति को हास्य की आत्मा मानते हैं, और आपने संस्कृत आचार्यों का मत देते हुए विकृति को हास्य का मूल तत्त्व माना है। ये दोनों ही भेद की अपेक्षा करते हैं। असंगति के लिए औचित्य और अनौचित्य का भेद अनिवार्य है और विकृति के लिए कृति और उसके विकार का। कहने का तात्पर्य यह है कि हास्य की उद्बुद्धि के लिए असंगति अथवा भेद की सूक्ष्म और तीव्र चेतना अनिवार्य है और चूंकि भारतीय प्रतिभा अपने दार्शनिक संस्कारों के कारण अभेद-द्रष्टा रही है इसलिए वह हास्य के अधिक अनुकूल नहीं पड़ी।

प्रो०—हाँ, भारतीय जीवन-दृष्टि सदा से ही गंभीर रही है, हास्य उसके अनुकूल कम ही पड़ा है।

नगेन्द्र—हमारे यहाँ मानव-जीवन की दो मौलिक वृत्तियाँ मानी गई हैं राग और द्वेष। इन्हीं के अनुसार हमारे साहित्य में शृङ्गार और करुण को महत्त्व मिला है। भारतीय मन या तो पूर्ण रूप से रागी रहा है और या फिर एकदम वैरागी हो गया है। दोनों के बीच में समझौता करना उसे अधिक नहीं भाया है। इसलिए उसने हर्ष को ही महत्त्व दिया है, हास्य से उसे संतोष नहीं हुआ। जीवन में उसने हर्ष को ही लक्ष्य बनाया है और यदि उसमें व्याघात पड़ा है तो वह उससे विरक्त होकर उसे त्याग ही बैठा है। गंभीर प्रकृति का मनुष्य

कुण्ठित होने पर ठोकर मारना पसन्द करेगा, हँसेगा नहीं।

प्रो०—आपका कहना ठीक है, हँसने के लिए रूक्ष और व्यावहारिक प्रकृति की आवश्यकता होती है—गंभीर भावुक प्रकृति उसके प्रतिकूल पड़ती है। अंग्रेज़ विशेषकर स्कॉच जितने सहज भाव से और खुल कर हँस सकता है उतना अन्य देशवासी नहीं। और, ठीक इसी कारण जर्मन और भारतीय जातियों में हास्य-वृत्ति अपेक्षाकृत बहुत ही क्षीण है।

अंग्रेज़ कवि शेक्सपियर जीवन की यातनाओं और विकलताओं का आघात पाकर सघन से सघन वातावरण में भी हँस सकता था। आप उसके दुःखान्त नाटकों को ही लीजिए—उस व्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह गहन से गहन परिस्थितियों में भी हंस सकता है—उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ-दृढ़ है कि न तो शोक की सघनता और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चंचल कर सकती है। वह जीवन की व्यावहारिकता अथवा गतिशीलता के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसके मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा का वह उपहास करता है—वह बाधा चाहे भावात्मक हो या अभावात्मक—प्रेम की अतिशय गम्भीरता पर भी वह उसी प्रकार हँसता है जिस प्रकार शोक की जड़ता पर। परन्तु भारतीय कवि भवभूति या जर्मन कवि गेटे के लिए ऐसी परिस्थितियों में चित्त की पूर्ण विद्रुति या आत्मा का घोर आक्रोश ही सम्भव है।

परन्तु अब तक हम मौलिक कारणों का ही विश्लेषण करते रहे हैं—इनके अतिरिक्त प्रासङ्गिक कारण भी अनेक हैं।

नगेन्द्र—प्रासंगिक कारणों से क्या मतलब ?

प्रो०—अर्थात् वे कारण जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है उदाहरण के लिए, हिन्दी के जन्म और विकास की परिस्थितियों को ही लीजिए, जिन सघन और निविड़ परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है, उनमें हँसाने और हँसने का अवकाश नहीं रहा—उनमें केवल गम्भीर साहित्य की सृष्टि ही सहज और सरल थी। प्रसाद जी ने हिन्दी में हास्य के अभाव का यही मुख्य कारण बताया है। वे कहते हैं कि हास्य मनोरंजिनी वृत्ति का विकास

है---परन्तु हमारी जाति शताब्दियों से पराधीन और पद-दलित है; इसलिए हमें हँसने का अवकाश ही नहीं है। वास्तव में वीर गाथा और भक्ति युगों में तो उसके लिए स्थान ही कहाँ था—पहले में परिस्थिति की सघनता और दूसरे में भावना का अतिशय उद्रेक दोनों ही हास्य के प्रतिकूल पड़ते थे।

हाँ, रीति-युग में आकर जब कविता का दरबार से सम्बन्ध स्थापित हो गया था, तब यह आशा की जा सकती थी कि आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए कवि-जन हास्य की भी उद्‌बुद्धि करते। परंतु आप देखें कि इस युगमें हास्य का और भी अधिक अभाव है। इसका कारण यह है कि निर्मल हास्य सदैव स्वस्थ दशा में ही सम्भव है। रीति युग में हमारा समाज मन और शरीर दोनों से ही रुग्ण था—राजा लोगों का, सम्पन्न सामाजिकों का रोगी मन स्वस्थ निर्मल हास्य की अपेक्षा शृङ्गार की चुहल को ही अधिक पसन्द करता था। आधुनिक युग में आकर परिस्थिति फिर गम्भीर और सघन हो गई। इस प्रकार हमारे साहित्य की परिस्थितियाँ भी हास्य के सर्वथा प्रतिकूल रही हैं।

नगेन्द्र—परन्तु यहाँ एक आपत्ति हो सकती है। वह यह कि उर्दू साहित्य का विकास भी तो प्रायः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। फिर क्या कारण है कि उसका हास्य काफ़ी समृद्ध है।

प्रो०—इसके मेरे पास दो उत्तर हैं--एक तो यह कि परिस्थिति एक मात्र कारण नहीं होती, वह अनेक कारणों में से एक हो सकती है, दूसरे उर्दू और हिन्दी की परिस्थितियाँ बाहर से एक-सी लगती हैं, अन्दर से उनमें काफ़ी अन्तर है। उर्दू विजेताओं की भाषा थी, हिन्दी विजितों की। उर्दू बाज़ार और मजलिसों की भाषा रही है, हिन्दी जनता के हृदय की। स्वभावतः उर्दू में शोख़ी और चटक अधिक है। और ये दोनों हास्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त दोनों की पृष्ठ-भूमियाँ तथा परम्पराएं कितनी भिन्न हैं। उर्दू को फ़ारसी की परम्पराएं प्राप्त हुई हैं, और फ़ारसी में सूक्ष्म और परिष्कृत हास्य की कमी नहीं है। और फिर, हमारे और उर्दू वालों के सामाजिक जीवन में कितना अन्तर है। क्लब लाइफ़ जितनी अच्छी उर्दू वालों की रही है, उतनी हम लोगों की आज भी नहीं है।

नगेन्द्र—यानी आपका निष्कर्ष यह है कि हिन्दी की प्रकृति ही गंभीर है, इसलिए उसमें हास्य का अभाव है।

प्रो०—हाँ उसकी प्रकृति ही नहीं वरन् उसकी परम्पराएं, उसकी परिस्थितियां, उसके बोलने वालों की जीवन-दृष्टि, आदि सभी गम्भीर हैं। लेकिन अब प्रश्न यह है कि यह कमी पूरी कैसे हो ?

नगेन्द्र—साहित्य के अभाव प्रयत्न करके पूरे नहीं होते। उनकी जड़ें गहरी होती हैं। उनका सम्बन्ध जाति के संस्कारों से होता है। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन से जाति के संस्कारों में परिवर्तन होने पर ही यह सम्भव हो सकता है। जीवन की विषमताओं से रगड़ खाकर भारतीयों का दृष्टिकोण जब आध्यात्मिक कम और व्यावहारिक अधिक हो जायगा, आदर्श के भावमय स्वप्न न देखकर जब हम व्यवहार की रुक्षता के अभ्यस्त हो जायेंगे, स्वभावतः ही हमारे अन्दर हास्य-वृत्ति का विकास हो जायगा। तभी हमारे साहित्य से भी हास्य का यह अभाव दूर हो जायगा।



: आठ :

डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति

बाबू श्यामसुन्दरदास ने यों तो अनेक आलोचना ग्रन्थ लिखे हैं---परन्तु उनकी आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के लिए हम 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित संस्करण और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' को आधार मानकर चल सकते हैं। साहित्यालोचन में उसके सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति है और हिन्दी साहित्य में व्यावहारिक रूप की। इस प्रकार इन दोनों ग्रंथों में बाबू जी का आलोचक रूप सम्पूर्ण हो जाता है।

काव्य सिद्धान्त---बाबू जी के सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम दोनों की ही स्वीकृति है---कला, साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी निबन्ध आदि का विवेचन सर्वथा पश्चिमीय पद्धति पर है---नाटक आलोचना और शैली के विवेचन में पश्चिमीय और पूर्वीय दोनों साहित्य-शास्त्रों का आधार ग्रहण किया गया है, रस का विवेचन मुख्यतः भारतीय परम्परा के अनुसार ही है। इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य सिद्धांतों की अपेक्षा बाबू जी पर पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रभाव कहीं अधिक है, इसीलिए उन्होंने निर्विवाद ही कविता को कला मान लिया है। कला में कविता का अन्तर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धान्त है---जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक 'हीगेल' ने किया था। भारतीय साहित्य-शास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक् रखकर देखता आया है। कला का स्थान हमारे यहाँ काव्य की अपेक्षा अत्यन्त निम्न रहा है---काव्य का सम्बन्ध जहाँ अभौतिक रस-चेतना से है, वहाँ कला का सम्बन्ध भौतिक जीवन-विलास से है। इसीलिए एक को जहाँ ब्रह्मानन्द-सहोदर की पदवी दी गई है, दूसरे को नागरिक जीवन का शृङ्गार-मात्र माना

गया है। आज भी भारतीय दृष्टिकोण काव्य को कला के अन्तर्गत मानने को प्रस्तुत नहीं है। प्रसाद जी और शुक्ल जी के मन्तव्य प्रमाण हैं—दोनों ने अत्यन्त सबल शब्दों में हीगेल के मत का तिरस्कार किया है।

प्रसाद—काव्य की गणना विद्या में थी—और कलाओं का वर्गीकरण अविद्या में था। × × × × कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

—काव्य और कला।

शुक्ल—+ + + कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।

—रसात्मक बोध के विविध रूप।

इसके विपरीत बाबू जी ने कोई शङ्का ही नहीं उठाई। उन्होंने ज्यों-का-त्यों पश्चिमीय सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। वे वास्तव में हीगेल तक पहुंचे भी नहीं हैं। हडसन और नर्सफ़ोल्ड को ही प्रमाण मानकर उपर्युक्त तथ्य को ग्रहण कर बैठे हैं।

सामान्यतः बाबू जी रसवादी ही हैं—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसङ्गों में जीवन और काव्य में भावों की महत्ता स्वीकृत की है:—

"ऊपर के विवेचन का सारतत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है।······यह भी हम भली भाँति जानते हैं कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है ज्ञान जन्म देता है दर्शन, विज्ञान, आदि शास्त्रों को, और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत् से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है।" साहित्य में रसवाद वास्तव में सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त है। योरोप के साहित्य-शास्त्र में प्रायः तीन प्रकार के मूल्यों का प्रचलन रहा है:—एक क्लासिकल जिनमें शान्ति और गम्भीरता का प्राधान्य था, दूसरे रोमांटिक जिनमें वैचित्र्य और आवेश की प्रभुता थी—और तीसरे बौद्धिक मूल्य जो इस युग की सृष्टि

हैं और आज अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हो रहे हैं। इनमें पहले दो तो निश्चित रूप से रसवाद के अन्तर्गत आ जाते हैं—एक काव्य की आत्मा गम्भीर एवं शान्तिमय आनन्द को मानता है और दूसरा उत्तेजना तथा आवेशपूर्ण आनन्द को। परन्तु दोनों ही निश्चित रूप से बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागतत्त्व पर बल देते हैं—और इस प्रकार ये नवीन बुद्धिवादियों के वर्ग से सर्वथा पृथक् हैं जिनका लक्ष्य रागात्मक आनन्द न होकर बौद्धिक उत्तेजना ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में भी अलङ्कार-सम्प्रदाय और कुछ अंशों में ध्वनि-सम्प्रदाय ने भी राग की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था—परन्तु धीरे-धीरे रसवाद ने उनको आच्छादित कर लिया। हिन्दी में आरम्भ से ही रसवाद का प्रभुत्व रहा है—आधुनिक आलोचना में भी प्रगति-वर्ग के कुछ अति-प्रेमी प्रयोगवादियों को छोड़कर एक स्वर से रसवाद की ही प्रतिष्ठा है। यह दूसरी बात रही कि रस के स्वरूप के विषय में आधुनिक पण्डितों के मत भिन्न भिन्न हों। बाबूजी रस अथवा काव्यानन्द को प्राकृतिक आनन्द से केवल मात्रामें ही नहीं वरन् प्रकार में भी भिन्न मानते हैं : "तथापि यह भी हम जानते हैं कि दोनों में बड़ा भेद है—केवल मात्रा में नहीं, प्रकार में भी। प्राकृतिक आनन्द से काव्यानन्द भिन्न होता है।" उन्होंने उसके लिए अलौकिक और ब्रह्मानन्द-सहोदर दोनों ही विशेषणों का प्रयोग किया है—परन्तु उनका अर्थ विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक रूप में किया है। अलौकिक से तात्पर्य इस लोक से परे का नहीं है—और न असाधारण अथवा असामान्य का। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना प्राकृतिक आनन्द की भावना के काव्यानन्द नहीं मिलता, प्राकृतिक अनुभूति ही अलौकिक अनुभूति का आधार बनती है। इस प्रसंग में वे पं० केशवप्रसाद मिश्र की ही तरह अलौकिक का अर्थ अति-प्राकृतिक (Super-natural) अथवा असामान्य (Extra-ordinary) न मानकर पर-प्रत्यक्ष-गम्य Super-Sensuous ही मानते हैं। और स्पष्ट शब्दों में:—

१—काव्यानन्द इसी लोक का अनुभव है; इसका आधार निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभव है

२—परन्तु वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभव नहीं है वह इन्द्रियातीत (Super-Sensuous) अनुभव है।

३—यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। पर-प्रत्यक्ष मन की सत्-प्रधान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वितर्क अथवा अपने पराये का ज्ञान तथा अनुभव नहीं रहता। इस प्रकार पर-प्रत्यक्ष-गम्य अनुभव से एक प्रकार से, साधारणीकृत अनुभव का ही अभिप्राय है। ॐ

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विवेचन सर्वथा भारतीय काव्य शास्त्र के अनुकूल है और इसमें उसी के गुण-दोष वर्तमान हैं। उपर्युक्त विशेषणों में से 'पर-प्रत्यक्ष-गम्य' काव्यानन्द के केवल प्रकार की ओर संकेत करता है, और 'इन्द्रियातीत' अभावात्मक है। ये दोनों मिलकर भी रस के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते : पहला वर्णनात्मक है, दूसरा निषेधात्मक। इस प्रकार सार केवल यही रह जाता है कि काव्यानन्द एक विशिष्ट अनुभव है जो इन्द्रियों से परे है। परन्तु 'विशिष्ट' और 'इन्द्रियों से परे' पद भी तो व्याख्या चाहते हैं। 'इन्द्रियों से परे' का एक स्पष्ट अर्थ 'आध्यात्मिक' हो सकता है—किंतु यह अर्थ यहाँ पर निश्चित ही अभिप्रेत नहीं है क्योंकि काव्यानन्द को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव कहीं नहीं माना गया। स्थूल दृष्टि से दूसरा अर्थ 'बौद्धिक' भी किया जा सकता है, परन्तु वह भी यहाँ निर्दिष्ट नहीं है। इस प्रकार यह विशेषण अभाव का द्योतक भर ही रह जाता है, वास्तविक रूप को स्पष्ट नहीं कर पाता। इसी को अनिर्वचनीय आदि शब्दों से व्यक्त करना अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार कर लेना है। काव्यानन्द की यह विशिष्टता एवं अतीन्द्रियता आज के मनोविज्ञान को सर्वथा अमान्य है। इसके प्रमाण में हम प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का एक सबल तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका आशय कुछ इस प्रकार है :

काव्यानुभूति को यदि विशिष्ट अनुभव मान लिया जाय तो फिर भी प्रश्न यह उठता है कि उसका माध्यम क्या है? क्या उसके लिए

ॐ पाद-टिप्पणी—साहित्यालोचन में बाबू साहब ने पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) को साथ-साथ दे दिया है, इससे दोनों के विषय में एक दूसरे के पर्याय होने का भ्रम हो सकता है। परन्तु एक ही वस्तु के विशेषण होते हुए भी ये दो भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

किसी विशिष्ट इन्द्रिय अथवा अनुभूति-संस्थान की कल्पना की जायगी।

काव्य के उद्देश्य के विषय में आपका दृष्टिकोण गम्भीर और व्यापक है। काव्य की सिद्धि आप केवल मनोरञ्जन में नहीं मानते और इसीलिए लोकप्रियता को उसकी गौरव-कसौटी मानने से साफ़ इन्कार करते हैं। काव्य की सिद्धि आनन्द की स्फूर्ति द्वारा भावनाओं के उन्नयन और परिष्कृति में है—इसी दृष्टि से वह लोक-हित में सहायक होता है।

आनन्द को बाबू जी ने मूल लोक-हित माना है—और उसको रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित से निश्चय पूर्वक पृथक् दिखाया है:—

"पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनन्द-पूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द-झलक उस काल में आकर स्वयं लोक-हित बन जाती है, और काव्य के लिए यही मूल लोक-हित है। काव्य तथा कला के संख्या-हीन रूपों को देखते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित को हम काव्य या कला का अङ्ग नहीं मान सकते।"

उन्होंने काव्य और आचार के सम्बन्ध को स्वीकार अवश्य किया है—परन्तु उसको अधिक दृढ़ और अनिवार्य नहीं बनाया। शुक्लजी के काव्यालोचन में नीति के बन्धन अन्यतम सुदृढ़ और कठोर हैं—वहाँ लोक-धर्म के प्रतीक शिवं का प्रभुत्व है, सत्य और सुन्दर दोनों उसके पीछे हैं। परन्तु बाबू जी ने सुन्दर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिवं की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। धार्मिक आदेशों अथवा नीति-विधान को काव्य की सिद्धि मानने वाले आलोचकों की रुचि को उन्होंने स्पष्ट रूप में निकृष्ट माना है—"उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास से इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए

धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा माप-दण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव-व्यञ्जना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़ि-बद्ध आचार-विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"

यही कारण है कि शुक्लजी जहाँ 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को सहन भी नहीं कर सकते, वहाँ श्यामसुन्दरदास जी थोड़ा व्यापक और विवेक-सम्मत रूप देकर लगभग उसे स्वीकार ही कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे डा० ब्रैडले अथवा मि० क्लाइवबेल की तरह कला की दुनिया को एक नई, अपने में पूर्ण, एवं स्वतन्त्र सृष्टि नहीं मानते—परन्तु वे कला पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोपण करने के विरुद्ध हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में कला के आनन्द पक्ष पर ही बल दिया गया है—इस दृष्टि से वह भारतीय रसवाद के अनुकूल है, यही उनका मत है; और इसीलिए वे उसको विशेष आपत्तिजनक नहीं मानते। हाँ, हठवादियों के 'वैचित्र्यवाद' का वे घोर विरोध करते हैं।

मौलिकता—बा० श्यामसुन्दरदास ने काव्य के सभी अङ्गों का विस्तृत विवेचन किया है और पूर्व तथा पश्चिम के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धान्तों पर दृष्टिपात किया है। परन्तु उनकी मौलिकता पर अनेक बार और अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई गई है। शुक्लजी ने अपनी अमोघ सव्यंग्य शैली में उनके साहित्यालोचन को संकलन कहा है। जहाँ तक नवीन विचारों तथा काव्य-सिद्धान्तों की उद्भावना का प्रश्न है, बाबू जी क्या हिन्दी का कोई भी आलोचक या विचारक इस श्रेय का अधिकारी नहीं है। विदेश के भी आधुनिक साहित्य-शास्त्री इससे वञ्चित रह जाते हैं। और वास्तव में साहित्य-शास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धान्तों अथवा तथ्यों की उद्भावना या आविष्कार नहीं है। यहाँ मौलिकता से अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है। बाबू जी ने अपनी सफाई में यही तर्क उपस्थित किया है और जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, हम सर्वथा उनसे एकमत हैं। परन्तु

साहित्यालोचन के मूल-रूप पर यह सफाई लागू नहीं होती—उसमें दिये हुए सिद्धान्त और विचार तो अमौलिक हैं ही, उसकी विवेचन-पद्धति भी अनुकृत है। उसकी रूप-रेखा, उसका प्रसङ्ग-विभाजन, उसके शीर्षक-उपशीर्षक प्रायः हडसन की लोक-प्रिय पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' से ग्रहण किये गए हैं। कला के विवेचन में उनका आधार वर्सफ़ोल्ड की पुस्तिका 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' है। काव्य, साहित्य, कविता, शैली, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के विवेचन बहुत-कुछ हडसन की पुस्तक से अनूदित कर दिये गए हैं। नाटक के प्रसङ्ग में भारतीय नाट्य-विधान की व्याख्या कीथ तथा विश्वनाथ से और पश्चिमीय नाटक के अङ्गों का विवेचन हडसन से प्रायः ज्यों-का-त्यों ले लिया गया है। इस प्रकार साहित्यालोचन अपने आदिम रूप में मौलिक नहीं है—उसकी मौलिकता के विरुद्ध किये गए आक्षेप अप्रिय सत्य हैं। अप्रिय हम इसलिए कह रहे हैं कि इनमें उस परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया जिसमें कि साहित्यालोचन की रचना हुई थी। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रथम संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्य उद्धृत किए देते हैं—"एम० ए० के पाठ्य-क्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया, जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधार-स्वरूप कोई मुख्य ग्रन्थ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग, आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था।······ इस प्रकार यह ग्रन्थ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।" स्वभावतः इस प्रकार

रचे गए ग्रन्थ में 'उद्भावना' की अपेक्षा 'संकलन' की ही सम्भावना अधिक हो सकती थी ।

संशोधित संस्करण में आकर इस दोष कुछ शुद्धि हो गई है । यद्यपि मूल संस्करण की सामग्री भी इसमें प्रायः ज्यों-की-त्यों समाविष्ट कर दी गई है, फिर भी उसके अतिरिक्त इसमें और भी उपयोगी सामग्री जोड़ी गई है जिससे विवेचन अधिक व्यापक तथा समयानुकूल होने के साथ ही भारतीय भी अधिक होगया है । इसमें सन्देह नहीं कि यह सामग्री भी अधिकांशतः बाबू जी की अपनी नहीं है, परन्तु एक तो इसके आधार अनेक एवं विविध हैं—दूसरे अब बाबूजी को उसे पचाकर ग्रहण करने का अवकाश था । तीसरे, उनका दृष्टिकोण भी इस समय तक परिपक्व हो चुका था । अतएव इस संस्करण के विषय-प्रतिपादन में अपनापन आ गया है और इसे पढ़कर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नहीं कहा जा सकता ।

मौलिकता की कमी का यह आरोप बाबू जी की व्यावहारिक आलोचना पर भी लगाया जाता है । जैसा कि आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का सबसे अधिक विकसित रूप 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में मिलता है । उसका काल-विभाजन, कवियों और लेखकों पर आलोचनात्मक सम्मतियाँ प्रायः शुक्ल जी के इतिहास पर आधारित हैं । परन्तु इस इतिहास की प्रमुख विशेषता काल-गत प्रवृत्तियों का निरूपण ही है । इसमें विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा कलागत प्रवृत्तियों के प्रकाश में उनकी साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । कहा जा सकता है कि सामग्री यहाँ भी प्रायः उधार ली हुई है । राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हवाला इतिहास-ग्रन्थों से लिया गया है और कला के प्रवृत्ति-गत विकास की पूरी सामग्री जैसा कि बाबूजी ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है, 'राय कृष्णदास की कृपा का फल है ।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन काणे से लिया गया है । परन्तु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे अथवा कला का भी मर्मी हो, उसके साथ अन्याय होगा । हाँ, यह नक्शा बाबूजी

का अपना है—हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना का यह प्रथम महत्त्व-पूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारों ने कभी अपने को माना भी नहीं,—उन्होंने असन्दिग्ध शब्दों में साहित्यालोचन की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि "× × × इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी भाषा में व्यञ्जित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना में 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते हैं:—

१—जो आलोचक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग में आता है।

२—जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर सके—परन्तु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग में आता है।

३—जो सिद्धान्त और सामग्री दूसरों से ग्रहण करे, परन्तु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग में आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबू जी इसी तीसरे वर्ग में आते हैं।

आलोचना-शैली—बाबूजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है। परन्तु इस प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सके—दोनों प्रकार के सिद्धान्त उनमें पृथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एक रूप नहीं हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नहीं थी कि इन सिद्धांतों को पचाकर आत्मसात् कर ले और इस प्रकार उन्हें अपनी अनुभूति का अङ्ग बना ले। उन्होंने दोनों काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया और उनके सिद्धांतों को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परन्तु उनको अनुभूत नहीं किया। बुद्धि में भेद का अस्तित्व अनिवार्य है, वह अनुभूति में आकर ही मिटता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धांतों को बुद्धि से ग्रहण कर

अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अङ्ग भी बन गए थे। उनकी साहित्यिक-चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नए-से-नए अथवा बड़े-से-बड़े सिद्धान्त के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चय-पूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परन्तु उसके स्थान पर शुक्ल जी की आलोचना में वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें निःसन्देह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। बाबू जी ऐसा नहीं कर पाए—इसीलिए उनकी आलोचना में भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानान्तर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्याम-सुन्दरदास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नहीं कर पाते। उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारों ओर से लगाए गए, वे बहुत-कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए वे सूक्ष्म जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अन्तिम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अन्तर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौन्दर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। वहाँ आप देखिये कि बाबू जी ने विविध दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्त में यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुन्दर' की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है × × × ? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है, परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी। वह यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अङ्ग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो।" शुक्ल जी के लिए इस प्रकार बीच ही में रुक जाना असम्भव था। इसीलिए तो मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी वे चिन्तन की गहराइयों में बढ़ते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे—परन्तु श्यामसुन्दरदास जी अध्यापक के धरातल से ऊपर नीचे कभी नहीं गए। वे एक-रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्तमान थे। ग्रहण में विवेक, व्याख्यान में हठधर्मी का अभाव, और अभिव्यक्ति में

स्वच्छन्ता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था—और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असन्दिग्ध है। आरम्भ से ही हिन्दी के विद्यार्थी के लिए साहित्यालोचन की अनिवार्यता इसका अकाट्य प्रमाण है। आज विदेशी आलोचना-साहित्य से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है—हिन्दी का अपना आलोचना-साहित्य भी यथेष्ट विकसित और समृद्ध हो गया है, परन्तु कोई विद्यार्थी साहित्यालोचन की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से साहित्यालोचन को हिन्दी में जितनी सफलता मिली है उसकी आधी भी उसके आधार-ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' को अंग्रेजी में नहीं मिली।



: नौ :

प्रेमचन्द

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरांत भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्न-वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार, और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पण्डित-पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वञ्चित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत् असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानव-वादी लेखकों का प्रभाव काफ़ी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही संत था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद

ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूँजीपतियों और ज़मींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ़ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आख़िर पूँजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुःख-दर्द का शिकार है जिस तरह मज़दूर। राजनीतिक दल-बन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के ख़ाने बना लेना कि उसके दुख-दर्द का वहां प्रवेश ही न हो सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राज-नीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दंड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्म-घात तक का दंड है। परन्तु सहानु-भूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य

किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इसमें संदेह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएं होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिये : एक ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत, यहां तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ है कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यंत पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं : एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यंत सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यंत स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहां 'नार्मल' के अर्थ में कर रहा हूं। उनका दृष्टिकोण मनोग्रंथियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था जसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अवचार का अभाव था। मनोग्रंथि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित

रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रंथियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं : अर्थ-मूलक और काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रंथि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बन-कर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है। वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और इसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता; और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेक-हीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ-दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है। और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धांतों द्वारा। उधर किसानों और मज़दूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है; वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु ज़मींदारों और पूंजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मज़दूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभा-वात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने ज़मींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नहीं समझा।

दूसरे शब्दों में, वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रँगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काम-मूलक ग्रंथियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म-गहन होती हैं। फ्रॉयड के सिद्धांत को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूं विश्व-साहित्य का बृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काम-मूलक मनोग्रंथियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरत्चन्द्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महाकाव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में श्रृङ्गार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमें श्रृङ्गार की महत्त्व-स्वीकृति निःसंदेह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतंत्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है। और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है ठीक इसी तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-

स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरम्भ में उन्होंने अवैध काम-सम्बन्धों को प्रायः बचाया है, परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—उसमें कहीं भी रस नहीं लिया। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानी जी से अंतिम क्षणों में उल्लेख किया था, इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक हैं, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता; व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नार्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है; और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएं अत्यंत मुखर हैं। दृष्टिकोण का संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बांध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्चतर स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहां अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहां मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का

आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतंत्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भाँडों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता, वह क्षणिक उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन वास्तु-कला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद। इस मानव-वाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानव-वाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उप-योगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती या यों कहिये कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखंडता तक पहुँचने की उन्होंने ज़रूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहाँ तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकांत नैतिक

हैं—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानव-वाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अंतिम रूप में मानव-वाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग—जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसीलिए उनको मानव-वाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं : एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद जो क्रांति-मूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल, युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रांति प्रायः पाई जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिन्दी-पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं कल्पना-लोक से सम्बन्ध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएं मिलीं। निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो

यह तुरंत ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रांत रूप से किसी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएं नैत्यिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द-जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता ? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण-मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएं नित्य-प्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएं इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारों की भांति सैद्धांतिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं, तथा वातावरण, सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय ? यहीं उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रान्ति-मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही, देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं : एक रोमानी दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवरण में लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए

भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।—सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है : वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हां, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूप-रंग न होकर वस्तु का यथा-तथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न करके उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहां तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूं कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेष कर आज के कुण्ठा-ग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परन्तु फिर भी

मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में, जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं : तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नार्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परन्तु तेजस्विता, गहनता, और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना शक्ति अत्यंत प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियां या प्रखर चेतना बाधक होती है प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं तथा पात्र, अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्बुद्ध कर सकें। तीव्र अंतर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पाई। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएं भी हैं : अंतर्जगत् की समस्याएं—जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया। उनमें किसान-ज़मींदार, मज़दूर-पूँजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा, आदि बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और भ्रान्ति, कर्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत् के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि

ये प्रसंग आते ही नहीं । प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्य जगत् और अंतर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं । वे एक दूसरे से लिपटे हुए हैं । परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया । पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया । प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जब कि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गए थे, नये विश्वासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर और कभी आगे की ओर दौड़ती थी । उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी । परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है । कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता । परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता । चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते । इसी लिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है, और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है । विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है । यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफ़ी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता । उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिये । उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट है परन्तु कंकाल का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है । प्रसाद के विवेचन जहां दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहां प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर । व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बात की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम-से-काम

रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।



: दस :

पन्त का नवीन जीवन-दर्शन

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आलोचना करते हुए आज से आठ-नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पन्त के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आयंगे। कारण स्पष्ट है : पन्त के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पन्त-जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है, और आत्मा तथा ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत् का समाधान मिलता है। अतएव 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव-मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' में कई प्रकार की कविताएं हैं : अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएं आत्म-गत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं; कतिपय कविताएं प्रकृति-सम्बन्धी भी हैं, परन्तु अधिकांश कविताएं आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियों का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। 'ग्रंथि' से

'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुञ्जन' 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में पन्त जी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। बीच में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गए। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' दोनों में भी उन्होंने अति-भौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म सत्य और वस्तु सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है। चेतना पर वस्तु सत्य का प्रभुत्व है यद्यपि अवचेतन में आत्म सत्य की सत्ता का अन्त नहीं हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आए और पन्त जी वस्तु से आत्मा की ओर फिर प्रवृत्त हो गए—

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरंतन।

उनका विकास-पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है—

दीप-भवन युग विद्युत-युग में ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित।

परन्तु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है और न यह रहस्यवाद ही है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। पन्तजी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकांत अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में—मानव-हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है। अतएव उसमें मानव-हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्तिमूलक, पन्त को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है, दमन नहीं है :

आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख परन्तु साथ ही,

वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरंतन।

(लोक सत्य]

तीसरी रे भूम्य आत्मा की गहन।
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन॥
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन,
जहाँ मुक्ति विराजती,
औ' डूब जाता हृदय-क्रन्दन।
वहाँ सत का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन॥

किन्तु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बंध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ' धरा हो ज्योति-पावन !

५.वृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनन्द-रूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्विक उल्लास है। भूत-रत जीवन के काले लौह पाश से मुक्त अन्तश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास सृजनशील है। अतएव पन्त की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम और माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि सौन्दर्य-वैभव है—

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता ऽभिसार,
धरा पर ज्योति-भरण
हंसी लो स्वर्ण किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पन्त जी की काव्य-चेतना का सहज विकास था परन्तु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पन्त जी उस स्थिति पर पहुँच गए थे जहाँ से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अन्ध तमस् को भेदकर नवजीवन की स्वर्ण किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिए सबसे बड़ी ललकार है—आज से शत सहस्र वर्ष पूर्व मानव चेतना के उस नव प्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था: "ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।" मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेदकर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम-से-कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पन्त-जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ कटुता थी वह इस अग्नि में जलकर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है, नवजीवन, आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म चेतना का मूल तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, बहिरंतर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्म ज्ञान) कहा गया है—

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।

आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि करें उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एक-मात्र समाधान है। आज के द्रोह-रत मानव की यही मुक्ति है। और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नहीं है, युग-युग का शाश्वत सत्य है। मानव-जीवन की चिरंतन समस्या का चिरंतन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोषणा कर चुके हैं—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य अविद्यायां रताः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से पन्त जी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहाँ स्वयं कवि के शब्दों में—

रूप रंगों का चित्र जगत्
सिमट, धुल, हो अनुभव-अवगत
विचारों भावों में परिणत,
नियम चालित लगता संतत।
भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित,
एकता में वे आलिंगित,
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जगजीवन विकसित।

अर्थात् 'पल्लव' के सौंदर्य-कवि के मानस का रूप-रंग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से धुलकर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चिंतन और विचार में परिणत हो गया है, जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की

अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत् के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ औषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिए आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खंडित हो रहा है। अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है। जीवन के मन्दिर में हँसती हुई मानव-मूर्ति के स्थान पर यन्त्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्त-प्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णतः विश्रृङ्खल हो गया है। मध्यवर्ग कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त है। अर्थ-दस्यु उच्च वर्ग धन-मद में अन्धा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अन्ध लालसा से काँप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं:—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धान्तों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके बाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा-पन्थों से आगे नहीं बढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वन्सात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नव शिक्षा ने उसे पूर्णतः भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं : स्त्री, धन, पद, मान। बस इनके आगे उसकी चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अधःपतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन में संतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अन्तः स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहाँ तक कि भूत शक्ति का मूल-स्रोत भी आज अणु ने समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु-

जगत् का विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन-अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से सम्पूर्ण दिशा काल पर उसका आधिपत्य है—

दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

परन्तु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुखी और विपएण है। क्योंकि उसका अन्तर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन का सामंजस्य नष्ट हो गया है—

बहिर्चेतना जागृत जग में अंतर्मानव निद्रित,
वाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अंतर्जीवन मूर्छित मृत।

जब तक यह सामंजस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खंडित मानवता—मानवीय एकता—का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति सम्भव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव-एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्त्वों से ऊपर उस परम तत्त्व तक पहुँचती है—

अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सब में चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानन्द चिरंतन।

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दावली में यह भारतीय अद्वैतवाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है। जो आज से कुछ दशाब्दियों पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का दूसरा पश्चिम का है, एक प्राचीन दूसरा नवीन है, इस तरहकी कुछ धारणा मन में होती है। परन्तु तात्त्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार

है अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान कि विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्मुख हो गया। परन्तु जब वह सामाजिक दृष्टि-कोण लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत) को मिथ्या नहीं माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत् में स्व और पर का भाव, महान् और लघु का भाव, उच्च निम्न का भाव अर्थात् किसी भी प्रकार के पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी—कीरी और कुञ्जर समान हैं। मानव-जगत् में राजा-रंक, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र—आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद भ्रांति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी संतों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचार-धारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बन्धुत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बन्धुत्व पन्त में विश्व संस्कृति बन गया है।

> हमें विश्व संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
> मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।

रवीन्द्र पर जहाँ पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त पर वहाँ परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है—

> मानवीय एकता जातिगत तल में करनी स्थापित,
> मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुखश्री कर मंडित।

यह 'मनःनवर्ग' आत्म—संस्कार (Sublimation) का ह काव्यमय नाम है।

पन्त की इस जीवन दर्शन की ओर आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है। ज्योत्स्ना, जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की सबल उद्घोषणा है। युगांत में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रंग देना आरम्भ किया था परन्तु युग-वाणी और ग्राम्या में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिन्तन-प्रवृत्ति बहुत-कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिंता-धारा का स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अन्त में सन् १९४४ की अस्वस्थता ने उसे पुनः अन्तर्मुख चिंतन पर बाध्य किया और स्वर्ण-धूलि तथा स्वर्ण-किरण में उपर्युक्त चिन्ता-धारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति

पंतजी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य-चेतना के निर्माण में प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावतः उनके कवि-व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्त्तन होता रहा है। स्वर्ण-किरण में जीवन की भाँति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना में एक सहज सात्विक भावना का समावेश हो गया है। ऐन्द्रिय उपभोग की भावना जो पंत में पहले भी अत्यन्त संयमित थी, इन रचनाओं में प्रायः निःशेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिंतन का प्रभुत्व हो गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नवीन प्रकृति-चित्रों में रूप-रंगों का वैभव अब नहीं रहा—वास्तव में रूप-रंग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुञ्जन, ज्योत्स्ना आदि के रंग इनमें आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म-तरल हो गए हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्विक उल्लास है जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढ़ि के संयत-गम्भीर आनन्द ने ले लिया है।

भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन।

वह उसे चिंतन की ओर प्रेरित करता है :

निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का,
आत्मा गोपन करती चिंतन।

सामाजिक चेतना

तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओं का है। इनकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्म-परक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज-दर्शन में जीवन के आंतरिक तत्त्व-गत (Essential) मूल्यों का ही महत्त्व है, बाह्य, औपचारिक मूल्यों का नहीं। सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्यांकन भौतिक उपकरणों द्वारा नहीं वरन् मानसिक एवं आत्मिक उपकरणों के द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार

'पतिता' कविता में जब कि

क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये
बहू को नीच कलंकित।

और,

फूटा करम, धरम भी लूटा
शीष हिला रोते सब परिजन,
हा, अभागिनी ! हा कलंकिनी !
खिसक रहे गा-गाकर पुरजन।

तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित।

इसी प्रकार 'परकीया' में, पातिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है :

पति-पत्नी का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम-निरत यदि दंपति जीवन,
भोग-मात्र का परिणय साधन।
पंकिल जीवन में पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नहीं सत्य जो आप हृदय से
शेष शून्य जग का आडम्बर।

आप देखें कि इन दोनों उद्धरणों का सारांश बिलकुल एक है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित।

और

वही सत्य जो आप हृदय से।

सामाजिक उत्कर्ष

इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिए भौतिक विभव की अपेक्षा मानव गुणों का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है। और मानवगुणों के उत्कर्ष का मूलाधार है मनोस्वास्थ्य, जिसमें भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण सन्तुलन हो, जिसमें सामाजिक एवं लैंगिक द्विधा की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म संस्कार जिसके लिए प्रीति-मूलक सृजनात्मक भावनाओं का संवर्धन आवश्यक है :

रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की
तुम त्याग भोग को सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे।

राजनीतिक उत्कर्ष

इसी प्रकार भारत के मुक्ति दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यतः उसके भौतिक उत्कर्ष की नहीं वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मंगल-कामना करता है :

नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण में
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में।
रक्त सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन
शांति प्रीति सुख का भू-स्वर्ग उठे सुर-मोहन ॥

उसकी राष्ट्रीयता अथवा देश-भक्ति संकुचित नहीं है। भारतमात्र का कल्याण उसका प्रेय नहीं है—वह भारत के हित को विश्व-हित के साथ एक करके देखता है। भारत की दासता उसकी अपनी दासता नहीं थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी। इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश-मात्र की मुक्ति नहीं है। वह विश्व-जीवन की मुक्ति है, क्योंकि उसे विश्वास है कि अपनी महान् सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध भारत एक नवीन सांस्कृतिक आलोक का वितरण करेगा। इस प्रसंग में मुझे अचानक ही प्रधान मन्त्री के अनेक वक्तव्यों का स्मरण हो आता है। उनमें प्रायः सभी में इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व-कल्याण के साथ ग्रथित है। वह संकुचित राष्ट्रीयता के मोह में पड़कर विश्वादर्शों के लिए ही सतत प्रयत्नवान रहेगा :

"मैंने भारत के हितों का ध्यान रखा है, क्योंकि स्वभावतः ही यह मेरा प्रथम कर्त्तव्य था। मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अंग माना है। हमारे गुरु महात्मा गांधी ने यही शिक्षा दी है। उन्होंने हमें भारत के स्वातन्त्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शांति और मित्रभाव से रहने का उपदेश दिया है। आज संसार में स्थान-स्थान पर संघर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है इसलिये हमें प्रत्येक ऐसे कार्य का, जिससे यह द्वन्द्व कम हो, स्वागत करना चाहिए।"

दोनों के आदर्शों में कितना निकट साम्य है, और यह केवल संयोग नहीं है। सदा से ही, साहित्य इस प्रकार, अपने एकांत कक्ष से राजनीति को स्वप्न और आदर्श देता रहता है। इसीलिए तो कवियों को विश्व का जन्मना नियामक कहा गया है।

अतीत-प्रेम

इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अतीत के प्रति आकर्षण। हमारे प्रमुख कवियों में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रखर थी

प्रसाद में। पंत को आरम्भ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। वे सदा से भविष्य के स्वप्न-द्रष्टा कवि रहे हैं। इन नवीन कविताओं में पहली बार सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है। कवि पहली बार अपनी प्राचीन अध्यात्म-पूत संस्कृति वेद, उपनिषद, गीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और सम्भ्रम से आकृष्ट हुआ है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओं में आस्तिक प्रश्रय भाव भी मिलता है। 'स्वर्णधूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। इन कविताओं द्वारा कवि आज के भूत-त्रस्त जीवन में शांति का संचार करने के लिए मानो भारत की भूत-पावनी संस्कृति की आत्मा का आवाहन करता है :

शांति शांति दे हमें शांति हो व्यापक उज्ज्वल,
शांति धाम यह धरा बने, हो फिर जन-मंगल।

बहुत-सी कविताओं में उपनिषद् मन्त्रों के प्रेरणा-तन्तु विद्यमान हैं। कहीं उपनिषद् के 'द्वासुपर्णा' आदि रूपकों को ग्रहण किया गया है और कहीं उसके आर्षवचनों को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्ण-किरण' में अशोक-वन नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनो-गाथा का अध्यात्म-परक विश्लेषण-चित्रण करता है :

नित सत् राम, शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता
प्रकृति शिखा-सी उठे, शक्ति चित्
उतरे, निखिल जगत् में शिवा।

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य मेघदूत, कुमारसम्भव आदि के शतरंग कल्पना-चित्र भी इन कविताओं में स्थान-स्थान पर मणियों की भाँति टँके हुए हैं :—

सम्भव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर-मिथुनों से हों कूजित,
छाया निभृत गुहाएं उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित

\+ \+ \+

अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित
बढ़ती चन्द्र-कला भी गिरिजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियों में पन्त को पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक है। उनका रहन-सहन अब तक बहुत-कुछ पश्चिमी ढङ्ग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शेली, कीट्स और टेनिसन से अधिक काव्य-प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचार-धारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का संवर्द्धन-संस्कार करते थे, उस समय पंत को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पड़ता था। 'स्वर्ण-धूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' में पंत ने अपने प्रति अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है :

भारतीय ही नहीं बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इस युग के वयःप्राप्त कवियों के देखे पंत के व्यक्तित्व में भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सबसे कम रहा है। परन्तु अब जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँचकर वे सप्रश्रय भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव में स्थैर्य आयगा।

काव्य-गुण

विचार-सामग्री (Thought-Content) का परीक्षण कर लेने के उपरान्त दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्यांकन में उसी का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि जहाँ तक पर्युक्त सैद्धान्तिक सामग्री का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है कि उसके लिए गद्य भी सफल माध्यम हो सकता है, और दूसरे उसमें

कोई विशेष मौलिकता भी नहीं है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकास के अध्ययन के लिए आवश्यक था और कवि-मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया। पंत की नवीन कविता का मूल्य आँकने के लिए उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमें चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, दूसरे शब्दों में इन कविताओं का मन पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मंथनकारी तीव्रता या प्राणों को उद्वेलित करने वाली शक्ति या फिर कल्पना को समृद्ध एवं विचार-चिन्तन को प्रेरित करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सम्मुख सबसे पहले 'स्वर्ण-धूलि' की मर्मकथा, प्रणय-कुंज, शरद चाँदनी, मर्म व्यथा, स्वप्न-बंधन, स्वप्नदेही, प्राणाकांक्षा, रस-लवण आदि कविताएँ आती हैं। ये सभी कविताएँ शुद्ध गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन संग्रहों की मधुरतम कृतियाँ हैं। इनमें आत्म रस से भीगी, ऐन्द्रियता के कर्दम से मुक्त एक शांत-स्निग्धता मिलती है। ये कविताएँ परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियाँ हैं। सहजता का काव्य-गुण, जो गीति कविता का मूल तत्त्व है, वास्तव में इन्हीं कविताओं में मिलता है। शेष कविताओं में (भिन्न प्रकार का महत्त्व होते हुए भी) चिन्तन, विचार और कल्पना की जकड़-बन्दी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परन्तु इन कविताओं का सार-तत्त्व यह आत्म-द्रव ही है। इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर कवि ने स्वयं किया है :

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अंतर्ज्वाला में तपता मन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण।

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्त्व हैं सौन्दर्य-मोह, देह की वासना से मुक्त हल्की-सी, दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनों के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई कोमल अन्तर्व्यथा।

कुछ उदाहरण लीजिये :—

१. प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी।
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी।
पर्वत को जल दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत चंचल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अबाध दी॥

२. बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में,
एक मधुर जीवित आभा-सी लिपट गई तुम मन में
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में।

कुछ प्रकृति कविताएं भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैं :—

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण !
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचल-वासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।

इनके अतिरिक्त अन्य कविताओं में हार्दिक तत्त्व की न्यूनता है, परन्तु फिर भी कुछ कविताओं का महत्त्व असंदिग्ध है। यह महत्त्व गंभीर चिंतन, प्रौढ़ विचार और ऐश्वर्यमती कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है—स्वर्णोदय : जो इन नवीन संग्रहों की सबसे महान् रचना है, और पन्त की गुरुतम कृतियों में से है। इसमें मानव की जीवन-यात्रा : जन्म, शैशव, प्रौढ़ि, वार्धक्य और देहांत का गंभीर मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियों की अनेकरूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का समर्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में इस कवित

में एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि हिमाद्रि और मधुद्रु, इन्द्र धनुष, द्वा-सुपर्णा, अशोकवन और उभर सामंजस्य, चौथी भूख आदि कविताएं महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इन कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है?—और प्रभाव-विश्लेषण के लिए हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसंधान करना होगा। अस्तु!—स्पष्टतः ही ये कविताएं रसवादी नहीं हैं। अर्थात ये हमारे हृदय में वासना रूप में स्थित प्रेम उत्साह, शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावों को प्रत्यक्ष रूप से आंदोलित करती हुई हमारे चित्त में तीव्र संवेदन मय आनन्द की सृष्टि नहीं करतीं। उधर इनका प्रभाव एकान्त बौद्धिक भी नहीं है जैसा कि प्राचीन आलंकारिक काव्य जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा विदेश की नवीन बुद्धिवादी कविता का जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, इन कविताओं के उपादान तत्त्व तीन हैं: लोक-कल्याण-मय दार्शनिक चिंतन, उज्ज्वल रंगीन कल्पना और मधुर सौन्दर्य-भावना। अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल ही होगा। इनमें से पहले तत्त्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शांति और दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होता है; और ये तीनों मिलकर एक मधुर बौद्धिक शांति को जन्म देते हैं। मैंने यहां बौद्धिक शांति शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इस आशय से किया है कि यह शांति आध्यात्मिक शांति से भिन्न है। आध्यात्मिक शांति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति, और इन कविताओं के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शांति से क्या अभिप्राय है? बौद्धिक शांति से मेरा अभिप्राय उस शांति से है जो बौद्धिक विश्वास के ग्रहण से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में वह शांति जो कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण करने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शांति वास्तविक एवं पूर्ण शांति नहीं है आंशिक और एक प्रकार का शान्त्याभास है। परन्तु यह इन कविताओं का दोष नहीं है, यह तो

आज के बुद्धि-प्राण मानव-जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने में असमर्थ है, क्योंकि वह बुद्धि को वश में नहीं कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शांति की अनुभूति सम्भव नहीं है। और फिर पन्त जैसे व्यक्ति के लिए तो यह और भी दुर्लभ है क्योंकि पन्त के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अंग है उनकी अनुभूति। पन्त ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहां मुझे गुञ्जन की वे पंक्तियां फिर याद आ जाती हैं :—

सुनता हूं उस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।

यह पन्त की कदाचित् अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन-गंभीर विश्व जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य है। परन्तु पन्त जी यह नहीं कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए वीचि-माला अर्थात् जीवन और जगत् के मनोरम रूपों का अवलोकन करते रहे। आरम्भ में उनकी दृष्टि में विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और कल्पना को उत्तेजित करता था; अब उसमें चिंतन और विचार का मिश्रण हो गया है। परन्तु उस जीवन सत्य को प्राप्त करने के लिए तो प्रबल अनुभूति, सम्पूर्ण राग-द्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। किन्तु पन्त जी के व्यक्तित्व का यह अङ्ग सदा दुर्बल रहा है इसीलिए उनके काव्य में प्राण-रस की क्षीणता है जिसकी उन्होंने समृद्ध कल्पना गंभीर विचार और सूक्ष्म चिंतन द्वारा बहुत कुछ क्षति-पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। परन्तु क्या प्राण-रस की क्षतिपूर्ति सम्भव है ?

कला

कला का प्रयोग यहाँ मैं काव्य-शिल्प के अर्थ में कर रहा हूं। शिल्प बहुत कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न-साधन अपेक्षित होता है।

पन्त में ये तीनों गुण प्रचुर मात्रा में हैं, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्ण-किरण' में वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुंच गई है। यह प्रौढ़ि तीन दिशाओं में लक्षित होती है : काव्य-सामग्री की समृद्धि परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता, और अभिव्यक्ति की परिपक्वता। 'स्वर्ण-किरण' में पन्त ने अत्यन्त-समृद्ध काव्य-सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओं का कलेवर रूप-रंग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है :—

कलरव स्वप्नातप, सुरधनु पट
शशि मुख, हिमस्मित, गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियों-सी सुरपति प्रेषित।
शरद-चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित-
हिम की परियों का अञ्चल उड़
जग को कर लेता था परिवृत।

\+ \+ \+

चूम विकच नलिनी उर गूँजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू-पग-पायल।
विहँसे हिम-कण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के-से क्षण,
खोल तृणों के पुलक पंख उड़ने को भू रज के कण।

उपर्युक्त छंदों में चन्द्रमा और चाँदनी की अपार चांदी, किरणों और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि-माणिक, हिमानी का रेशम, स्वप्नों की पल-पल परिवर्तित छाया—प्रकाश की आँख-मिचौनी, और गीत, नृत्य, पायल का अभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पन्त का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है; प्रकृति के रम्य रूप आकाश, चन्द्र सूर्य, तारागण, आतप, चाँदनी, इन्द्र-धनुष असंख्य फूल, पक्षी, वृक्ष और लताएं, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना-चांदी, मणि-माणिक्य सभी अपने रूप रंगों का वैभव लिये कवि-कल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं। 'स्वर्ण-किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है और रूप-रंग के रोमानी, उपकरणों

अतिरिक्त यहाँ आध्यात्मिक जीवन के मांगलिक उपकरणों—उदाहरण के लिए मंदिर, कलश, दीपशिखा, यज्ञ-धूम, हवि, नीराजन, रजत घंटियां, अभिषेक, कर्पूर, चंदन, गंगा-जल, अमृत, आदि का भी यथेष्ट प्रयोग है :—

१. चन्द्रातप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ धूम-सी छाई ऊपर।

२. दीपशिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर।

३. आज समस्त विश्व मन्दिर-सा
लगता एक अखंड चिरतंन,
सुख-दुःख, जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन।

'स्वर्ण-धूलि' की कुछ कविताओं में नित्य प्रति के भौतिक जीवन के साधारण उपकरणों का भी उपयोग हुआ है, परन्तु वे इस काल-खंड की प्रतिनिधि रचनाएं नहीं हैं। ग्राम्या और युगवाणी की नैत्यिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र में लौट आया है जिस पर अब उसका अधि-कार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियों में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है! उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के बस थोड़े-से सांध्यकालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और चित्रों में प्रायः पुनरावृत्ति मिलती है। पन्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होंने भी केवल मनोरम रूपों को ही ग्रहण किया है—प्रसाद और निराला की भांति विराट और अनगढ़ रूपों को नहीं, परन्तु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म नियो-जन द्वारा कर ली है। वास्तव में चयन और नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रंग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नहीं मिलता :

स्वर्ण-रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुन्दर,
रजत घंटियों सा, सुवर्ण, किरणों का झरता निर्झर।

सिहर इन्द्र-धनुपी लहरों में इन्द्र नीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीतोज्ज्वल फेनों से जाता भर।

× × ×

शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया-बन नित कँपता रहता तारोज्ज्वल।

उपर्युक्त पंक्तियों में आप देखिये कि सौंदर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के प्रति पन्त का ऐन्द्रिय संवेदन कितना सचेत और तीव्र है!

इन रचनाओं में कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व और प्रौढ़ हो गई है। उनकी भाषा में सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में आकर उसमें गम्भीर सामाजिक-दार्शनिक तत्वों को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में अभिव्यक्ति में जन-साधारण के नैत्यिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया, जो 'स्वर्ण-धूलि' की अनेक सामाजिक कविताओं में चलता रहा।

फूटा करम धरम भी लूटा।
शीश हिला रोते सब परिजन—
हा अभागिनी, हा कलंकिनी
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन।

× × ×

सूट-बूट में सजे-धजे तुम
डाल गले फाँसी का फंदा,
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अन्धा।

× × ×

परन्तु 'स्वर्ण-किरण' की कविताओं में, इधर 'स्वर्ण-धूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोग:—

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत् में उभय रूप-तन में गिरने वाले जन
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि, करे उन दोनों का संचालन।

श्रवण गगन में गूँज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर
सृजन हुताशन को हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।



: ग्यारह :

राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास

राहुल जी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उनके विचार---पांडित्य---के दो पक्ष हैं---एक पुरातत्त्व का व्यापक और गम्भीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सौम्य व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। प्रस्तुत उपन्यासों का सम्पूर्ण कलेवर इन्हीं दो आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास राजा तथा राजतन्त्र के प्रभुत्व से अभिभूत है। वह स्वीकृत रूप से महत्त्वाकांक्षी नृपति व्यक्तियों का इतिवृत्त रहा है। परन्तु फिर भी इससे यह परिणाम निकालना भ्रामक होगा कि भारत गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ था। प्राचीन युग में भी---विशेष कर उस युग में भी---जब राजा का एकच्छत्र आधिपत्य और साम्राज्यवादी नीति अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी, लिच्छवि, मालव, यौधेय, गंधार आदि अनेक स्वतन्त्र गण थे जो क्रमशः वैशाली, मालवा, अग्रोदका, तक्षशिला आदि में प्रतिष्ठित थे। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा व्यवस्थित विवरण राजतन्त्रों के अधिष्ठाता राजाओं और उनके परिवारों का मिलता है वैसा इन गणतन्त्रों और उनकी कार्यकारिणी परिषदों का नहीं मिलता। क्योंकि व्यक्तिवादी राजा जहाँ अपने व्यक्तित्व की सभी प्रकार से संवर्धना करते हुए उसे अमर बनाने का प्रयत्न करते थे वहाँ गणतन्त्रों का जीवन सामूहिक था और समूह की अपेक्षा व्यक्ति की स्मृति-रक्षा सहज होती है। निदान इनके विषय में स्फुट उल्लेख विजेता राजाओं की प्रशस्तियों में, सिक्कों अथवा शिलालेखों में, या फिर तत्कालीन साहित्य में यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। महापण्डित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्तप्राय इतिहास

को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान में उनका समृद्ध पुरातत्त्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परन्तु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण और यौधेय-गण के सामूहिक जीवन संघर्ष का चित्रण करते हैं। जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों उपन्यासों में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन वृत्त का विवरण है—'सिंह सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नहीं है। ये दोनों व्यक्ति वास्तव में गण-जीवन के ही प्रतीक हैं। ×

× सिंह एक तरुण लिच्छवि कुमार है जो तक्षशिला जाकर शस्त्र-शास्त्र और उनसे भी अधिक गण-सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। वहां वह थोड़े ही दिनों में गंधार गण का अङ्ग बन जाता है—और उनकी ओर से पार्शवों के शाहानुशाह अर्थात् फ़ारस के शाहंशाह से युद्ध करता है—तथा उसमें विजय और यश का अर्जन करता है। यहाँ आचार्य पुत्री रोहिणी से उसका प्रेम-विवाह होता है और फिर कुछ दिन पश्चात् वह सपत्नीक वैशाली लौट आता है। वैशाली में वह यथा समय संस्थागार का सदस्य बनता है—और वहाँ के सामूहिक जीवन का यथोचित विकास करता हुआ मगध के अधिपति बिम्बसार को पराजित कर अपनी दी हुई शर्तें मानने के लिए बाध्य करता है। पहले वह निर्ग्रन्थ-आचार्य महावीर का शिष्य होकर तप और अहिंसा का व्रत लेता है, परन्तु उनसे मानसिक परितोष न पाकर अन्त में वह बुद्ध का अनुयायी हो जाता है और उनके बहुजन हिताय अनात्मवादी सिद्धान्तों में जीवन का समाधान प्राप्त करता है। 'जय यौधेय' यौधेय-कुमार है। जब सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेयों को हराकर भी उनकी स्वतन्त्रता को थोड़ा सा कर लेकर सम्मानपूर्वक उन्हें लौटा दिया और जय की बहन से विवाह कर उसे अपनी पट्टमहिषी बना लिया, तो गुप्त परिवार और यौधेय गण में सैद्धान्तिक वैषम्य के होते हुए भी स्नेह-मैत्री स्थापित हो गई। जय की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा पाटलिपुत्र के राजपरिवार में राजसी-ऐश्वर्य और वैभव के बीच होती है—परन्तु फिर भी उसके यौधेय-संस्कार इतने प्रबल हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को उस वाता-

ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्व

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन उपन्यासों में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का परस्पर क्या अनुपात है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के साधारण ज्ञान के आधार पर भी दिया जा सकता है। यद्यपि इनकी मुख्य कथावस्तु लिच्छवि और यौधेयों के गण-जीवन से सम्बन्धित है, परन्तु प्रामाणिक इतिहास का उपयोग

वरण में लिप्त नहीं होने देता, और आचार्य वसुबन्धु का संसर्ग प्राप्त करते ही अपने अस्तित्व और वैशिष्ट्य को पूर्णतः पहचान लेता है। शास्त्रीय शिक्षा में निष्णात होने के उपरान्त जय की यात्राएं आरम्भ हो जाती हैं—तक्षशिला की यात्रा तो वह पहले ही कर चुका था। अब हिमालय-उत्सव और उसके बाद सिंहल की सुदीर्घ यात्रा के लिए चल पड़ता है। सिंहल की यात्रा में उसे अनेक प्रकार के संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ता है। पहले तो जहाज़ के टूट जाने से वह और उसका मित्र सिंहवर्मा तथा उसकी पत्नी शबर-पल्ली में जा पहुँचते हैं—शबर-पल्ली का जीवन मानवता की बाल्यावस्था का जीवन है जो कृत्रिम नागरिक सभ्यता और संस्कार से सर्वथा अस्पृष्ट है। वहां जय को एक नवीन जीवन-व्यवस्था का अध्ययन करने को मिलता है। यहीं श्यामा नाम की तरुणी से उसका विवाह होता है—परन्तु फिर कुछ ही दिन बाद उसे और उसके मित्रों को पल्ली छोड़ने को बाध्य होना पड़ता है। वहां से वह पिष्टपुर और कांची होता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहां जाकर अपने पूर्व निश्चय के अनुसार बौद्ध भिक्षु हो जाता है। पर भिक्षु होने का उसका उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही है। उसकी या यों कहिए कि उसके स्रष्टा राहुल जी की धारणा है कि बौद्ध विहारों की व्यवस्था और गणतन्त्र-विधान दोनों का घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है—अतएव जय गण-व्यवस्था का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही बौद्ध भिक्षु बनता है। यहां उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर एक श्रेष्ठी तरुणी आत्म-समर्पण करती है, परन्तु मुक्त-प्रेम में विश्वास करता हुआ भी वह मिथ्याचार से बचने के लिए उसे अस्वीकृत कर देता है। इसके उपरान्त वह सीधा प्रतिष्ठान पहुँचता और वहां सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उसकी नव-परिणीता महारानी ध्रुवस्वामिनी से भेंट करता है।

वास्तव में उनके विरोधी राजकुलों के वर्णन में ही किया जा सकता था। 'सिंह सेनापति' में बिम्बसार और अजातशत्रु के व्यक्तित्व तथा उनका लिच्छवियों से युद्ध ही प्रामाणिक रूप से ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में गुप्त वंश के मुख्य व्यक्ति समुद्रगुप्त रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन की मुख्य घटनाएं ही प्रामाणिक हैं—आधिकारिक वस्तु में तो केवल यौधेयों का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है। शेष सम्पूर्ण विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित न होकर ऐतिहासिक कल्पना पर ही आधारित हैं—यहाँ तक कि दोनों नायक सिंह और जय भी काल्पनिक व्यक्ति हैं। पर इसके अतिरिक्त चारा ही क्या था? दो-चार सिक्कों और एक आध प्रशस्ति में दिये हुए स्फुट उल्लेखों में सामग्री ही क्या मिल

यहाँ उसे विक्रमादित्य के मनसूबों को समझने का अवसर मिलता है, जिससे वह यौधेय जाति के भविष्य की ओर सचेष्ट हो जाता है! और अग्रोदका आकर तरुण यौधेय और यौधेयानियों की सहायता से गण-जीवन को सुसंगठित और व्यवस्थित करने में लग जाता है। कुछ दिन बाद ही चन्द्रगुप्त का आक्रमण होता है—जिसमें यौधेयों के नवीन उत्साह की विजय होती है, और विक्रमादित्य की आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है। इस विजय के पश्चात् यौधेयों का आत्म-विश्वास और भी बढ़ जाता है और अब वे सेनापति जय के संयोजन में नित्य नवीन प्रयोगों के द्वारा कर्मान्त वाणिज्य आदि का विकास तथा योग्य सन्तान उत्पन्न करते हुए अपनी गण-शक्ति का संगठन और संवर्धन करते हैं। जय भी एक वीर-यौधेय-तरुणी वसुनन्दा से जिसने युद्ध में उसकी सहायता की थी, विवाह कर लेता है और विजय, रिपुजय आदि वीर पुत्रों को गण की भेंट करता है। पर विक्रमादित्य की दृष्टि अभी इधर ही लगी हुई थी—उसने कालिदास को भेजकर जय को लोभ देने का भी प्रयत्न किया, परन्तु जब इस प्रकार सफलता न मिली तो अन्त में पूरी तैयारी के लिए यौधेयों पर आक्रमण कर दिया। जय अब ५० वर्ष का हो चुका था—उसके निरीक्षण में यौधेय युवक और युवतियों ने प्राणों की बाजी लगाकर आत्म-रक्षा का प्रयत्न किया परन्तु प्रतापी गुप्त सम्राट् ने उसका पूर्णान्त ही कर दिया। इतिहास के पृष्ठ से ही वह महान्-गण-तन्त्र लुप्त हो गया।

सकती है थी—केवल संकेत ही मिल सकते थे, और उन संकेतों का उपयोग लेखक ने अपने सम्पूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमें संदेह नहीं।

उपन्यास-कला

आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोल्गा से गंगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुलजी के पास ऐश्वर्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भाण्डार है, एकान्त स्वच्छ और निभ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्प विशेष नहीं है। आज इन दोनों उपन्यासों का अध्ययन करते हुए मेरी यह धारणा और भी पुष्ट होती जाती है और मैं एक बार फिर उसी निर्णय को दुहराता हूं। इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का बहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुल जी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना ही। यह बात नहीं है कि इन घटनाओं में नाट्य-तत्त्व नहीं है। अथवा पात्रों के जीवन में संघर्ष नहीं है। उदाहरण के लिए जय यौधेय की कथावस्तु और उसके व्यक्तित्व में परिस्थिति और चरित्र दोनों के निर्माण की यथेष्ट सम्भावना है, परन्तु राहुल जी इससे यथोचित लाभ नहीं उठा सके। और उसका कारण है, वह यह कि राहुल जी कि दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर ही केन्द्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमें नहीं है। उनकी घटनाओं की गति-विधि और पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने स्पष्ट रूप में निर्धारित हो जाते हैं कि द्वन्द्व उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सिंह और जय दोनों के व्यक्तित्व विकास की रेखाएं एकदम सीधी हैं, उनका बहिर्मुखी जीवन सर्वथा स्वस्थ है, उनमें प्राणवत्ता है। स्रष्टा के महाप्राण जीवन की शक्ति और स्वास्थ्य उनमें साफ़ दिखाई पड़ता है। जय के चरित्र में तो अन्तर की विभूतियाँ भी पर्याप्त मात्रा में हैं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं होने पर भी वह हमारे हृदय को बहुत गहरे में जाकर नहीं पकड़ता जैसा कि होरी, सूरदास, शेखर या जैनेन्द्र, यशपाल अथवा इलाचन्द्र के सफल नारी पात्र करते हैं। नारी पात्रों में 'सिंह

सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज़्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकन सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमें विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यन्त वैचित्र्य-पूर्ण और सजीव होते हैं। इसका कारण है राहुल जी का अनुभव; जो विस्तृत पाण्डित्य तथा देश-विदेश की यात्राओं से समृद्ध और परिपुष्ट है। मैं समझता हूं जीवन का ऐसा चित्र-विचित्र अनुभव किसी एक व्यक्ति के लिए दुःसाध्य-सा ही है। इन उपन्यासों की वास्तविक महिमा अतीत भारत के सजीव चित्र उपस्थित करने में है—मौर्य और गुप्तकालीन भारत की सामाजिक अवस्थाओं का इतना विस्तृत वर्णन किसी इतिहास-ग्रंथ में भी नहीं मिलेगा। परन्तु इतिहास की दृष्टि से वह कितना प्रामाणिक है इसका निर्णय कोई अधिकारी विशेषज्ञ ही कर सकता है। मैं तो यही स्वीकार कर सकता हूं कि वह अत्यन्त रोचक, सजीव और ज्ञानवर्धक है। हां, इतना अवश्य है कि उसके सम्बन्ध में अनेक सन्देह और मन में अनिवार्यतः उठते हैं : क्या उस समय मांस और मदिरा का इतना ही अधिक प्रचार था? क्या चन्द्रगुप्त आदि यशस्वी राजा और उनके विद्वान् पुरोहित ऐसे ही धूर्त थे जैसे कि राहुल जी ने अंकित किये हैं? क्या गण-तन्त्र वास्तव में ही इतने सुव्यवस्थित थे—उनके कर्मान्त आदि भी क्या ऐसे ही सम्मिलित थे—इन गणों में वर्ण-भेद क्या एकदम नहीं था? क्या आधुनिक सोवियत विधान का उस युग के इतिहास पर आरोप नहीं किया गया?

इन सबका सप्रमाण उत्तर तो मैं नहीं दे सकता—पर ऐसी धारणा अवश्य बनती है कि राहुल जी को अपने प्रतिपाद्य के प्रति इतना उत्कृष्ट आग्रह रहता है कि वे उसके अनुकूल तथ्यों को मोड़ने में संकोच नहीं करते—उनके विषयों में प्रायः जल्दबाजी रहती है।

इसके अतिरिक्त कुछ बातें तो निस्संदेह ही आपत्तिजनक हैं—उदाहरण के लिए जिस उदारता से राहुल जी के पात्र एक दूसरे पर

चुम्बनों की बौछारें करते हैं वह अनैतिक न भी मानी जाय, परन्तु अभद्र अवश्य है—वास्तव में रस की उद्भावना करने का यह सस्ता उपाय इतने असंयम के साथ व्यवहृत किया गया है कि उससे अरुचि होने लगती है—इसी तरह एक जगह जोश में आकर नन्दा कहती है—"चाहे तो मेरी टांग के भीतर से जाओ या मुझे हराकर जाओ।" महावीर स्वामी और उनके उपदेशों का जो खाका खींचा गया है, उसमें स्पष्ट ही पर-धर्म-विद्वेष की गंध आती है।

जीवन-दर्शन

इन उपन्यासों का प्रतिपाद्य जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। उसमें आत्मा, परलोक, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का तीव्र निषेध करते हुए भौतिकवाद की प्रतिष्ठा है। त्याग, वैराग्य आदि काल्पनिक सुख-साधनों का तिरस्कार करते हुए स्वस्थ जीवन-उपभोग की स्वीकृति है। वैयक्तिक जीवन के ऊपर सामूहिक जीवन की सफलता का दिग्दर्शन है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार राहुल जी राजतन्त्र और अध्यात्मवाद दोनों को एक ही सिद्धान्त की दो अभिव्यक्तियां मानते हैं—और स्पष्ट शब्दों में—उनकी धारणा है कि अध्यात्म की कल्पना राज-सत्ता को स्थिर रखने के लिए ही की गई है। निदान इन दोनों के विरुद्ध उनके संस्कार घोर विद्रोह कर उठते हैं। उनके सभी ग्रन्थों की तरह प्रस्तुत उपन्यासों में भी इन दोनों का कठोर प्रतिवाद किया गया है। राजा के लिए प्रायः रजुल्ला शब्द का प्रयोग इस घृणा का प्रमाण है। कुछ तो अन्तर में पड़े हुए संस्कारों के कारण और कुछ इसलिए भी कि उसका विधान गण-तन्त्रात्मक है, राहुल जी के मन में बौद्ध धर्म के प्रति अब भी आस्था वर्तमान है। 'सिंह सेनापति' का नायक अन्त में बुद्ध और संघ की शरण में चला जाता है। जय यौधेय में इस प्रकार की स्वीकृति तो नहीं है, परन्तु बुद्ध के अनात्मवाद और परिवर्तनवाद आदि का अनेक स्थानों पर गौरव गान करते हुए लेखक ने अपने जीवन-दर्शन की पुष्टि की है। यह कहां तक संगत है? अर्थात् राहुल जी का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और बुद्ध-प्रतिपादित अनात्मवाद कहां तक समान है? इस बात का अधिकार पूर्वक निर्णय तो कोई बौद्ध पण्डित ही कर सकता है, परन्तु धम्मपद का जो प्रचलित संस्करण आज उपलब्ध है, उसमें परलोकवाद

का साधारण अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ में ही स्पष्ट प्रयोग है।

इसके प्रतिकूल राहुल जी ने परलोकवाद की सर्वथा भौतिक व्याख्या की है। "मैं केवल 'बहुजन हिताय' काम को मानता हूं—परलोकवाद केवल एक रूप में मानता हूं—पुत्र पिता का परलोक है, पुत्र पिता का पुनर्जन्म है, पिता मरनेसे पहले अपने शरीर द्वारा अपने मानसिक और शारीरिक संस्कार का एक अंश माता के शरीर में स्थापित करता है। माता उसमें अपना अंश मिलाती है और नौ मास गर्भ में रख उसे शिशु के रूप में अगले लोक, अगली पीढ़ी के लिए देती है। इसे मैं परलोक मानता हूं।"—इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और बौद्ध आचार्य आज भी अनेक सबल युक्तियों द्वारा उपर्युक्त व्याख्यान का खंडन करने को प्रस्तुत हो जायंगे। परन्तु इसमें भी एक विशेष संगति है, यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह व्याख्यान भी अपने ढंग से सटीक और मनोग्राही है। और आज के वैज्ञानिक युग में अधिक ग्राह्य भी हो सकता है।

उपसंहार

अन्त में दो बात और कह दूँ। एक तो यह कि औपन्यासिक कला की न्यूनता होते हुए भी राहुल जी के ये दोनों ग्रन्थ (विशेषकर जय यौधेय) हिन्दी के कथा-साहित्य में निश्चय ही एक विशेष गौरव के भागी होंगे। राहुल जी अपनी कमी को जानते मालूम पड़ते हैं और धीरे-धीरे वे इस कला का भी अर्जन कर रहे हैं—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' का अन्तर इसका असंदिग्ध प्रमाण है। दूसरी यह कि हिन्दी की भाषा-शैली के विकास में इन उपन्यासों का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतीत के सांस्कृतिक ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने के लिए जिस समृद्ध और समर्थ शब्दावली का प्रयोग स्वर्गीय प्रसाद जी ने अपने नाटकों में आरम्भ किया था, राहुल जी ने उसको और भी अधिक श्री वृद्धि की है। वास्तव में इस क्षेत्र पर उनका अधिकार प्रसाद जी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वोट के लिए छन्द, बन्दरगाह के लिये पत्तन या तीर्थ, खेती के लिए कर्मान्त आदि कितने समर्थ शब्द हैं। इसी प्रकार आज की राजनीतिक और भौगोलिक शब्दावली के भी प्राचीन साहित्य के पर्याय देकर एक बहुत बड़ी क्षति की पूर्ति की गई है।

: बारह :

दिनकर के काव्य-सिद्धान्त

दिनकर वास्तव में प्रकृति और कर्म से आलोचक नहीं हैं—वे विचारक कवि हैं। उनके इन लेखों में किसी विषय का साङ्गोपाङ्ग पर्यालोचन न होकर उसके प्रति कवि के अपने दृष्टिकोण का ही ओजस्वी वाणी में स्पष्टीकरण है। वैसे तो उन्होंने आधुनिक कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों और समस्याओं को ही ग्रहण किया है, परन्तु उनका विवेचन करते हुए काव्य के मूल-गत सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण अनिवार्यतः हो गया है। मैंने अभी कहा कि दिनकर कर्मणा आलोचक नहीं हैं, वे कार्मिक साहित्यकार हैं। उनके निबन्धों में आलोचना की शास्त्रीय क्रम-बद्धता ढूंढना व्यर्थ होगा, इसीलिए आप देखेंगे कि उन्होंने काव्य के स्वरूप के विषय में, उसकी परिभाषा आदि के विषय में प्रायः चर्चा ही नहीं की। कार्मिक साहित्यकार स्वरूप आदि की मीमांसा में नहीं पड़ता, उसको तो वह स्वीकृत सत्य मानकर चलता है।

दिनकर स्पष्टतः ही काव्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलते हैं, परन्तु यह भी निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि यह व्याख्या कवि के वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आश्रित रहती है "साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानते हैं। किन्तु जीवन और उसकी इस व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता कवि या कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रगट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"+ उनकी यह मान्यता काव्य में व्यक्ति-तत्व और समाज-तत्व दोनों

+ मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४१

की स्वीकृति है। कहा जा सकता है कि इन दोनों के संयोग से ही दिनकर की जीवन-दृष्टि तथा कवि-दृष्टि का निर्माण हुआ है। यहाँ मैंने संयोग शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर इसीलिए किया है कि इन दोनों तत्त्वों में वे अभी समन्वय नहीं कर पाये हैं, दोनों के बीच जैसे अभी द्वन्द्व मिटा नहीं है, और परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुसार उनमें से कोई-सा एक कभी इतना उभर आता है कि वह दूसरे का निषेध-सा करने लगता है। उदाहरण के लिए मैं दो प्रकार के उद्धरण पेश करता हूं, आप देखिये कि पहले में आत्म-तत्त्व की अनिवार्यता की असंदिग्ध शब्दों स्वीकृति है, और दूसरे में उतने ही बल के साथ उसका निषेध :

(१) कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे। [मिट्टी की ओर, पृ० १३२]

(२) कला में शुद्ध आत्माभिव्यञ्जन का स्थान कभी नहीं था, और आज तो उसकी बात भी नहीं चलाई जा सकती × × × × आज साहित्य को वैयक्तिक अनुभूतियों की अपेक्षा स्वभावतः ही उन सार्वजनिक अनुभूतियों को अधिक महत्त्व देना है, जिनके कारण पृथ्वी अशान्त एवम् मनुष्य के लहू से लाल है……।

[मिट्टी की ओर]

मैं प्रसंग से विच्युत कर किसी उद्धरण का अनर्थ करना साहित्यिक बेईमानी समझता हूं और ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोधों की आन्तरिक एकता के रहस्य से भी अनभिज्ञ नहीं हूं। मैं स्वीकार करता हूं कि दूसरे उद्धरण में 'शुद्ध आत्माभिव्यञ्जन' से तात्पर्य समूह से निरपेक्ष कवि के व्यक्तिगत राग-द्वेष का ही है—और उनका ही विरोध करना लेखक को अभीष्ट है। परन्तु फिर भी यह द्विविधा तो रह ही जाती है कि यदि उद्धरण (१) के अनुसार अपने प्रति पूरी ईमानदारी ही कवि के लिए प्रथम और अन्तिम बन्धन है और कविता कवि की अपनी आत्मा का आलोक है, तो फिर व्यक्तिगत राग-द्वेष की निश्छल अभिव्यक्ति का स्थान कला में क्यों नहीं माना जायगा ? वास्तव में द्विविधा दिनकर के दृष्टिकोण में अत्यन्त स्पष्ट है और एक रूप में नहीं अनेक रूपों में स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है।

अब काव्य के महत्तर प्रश्न 'उद्देश्य' को लीजिए। शास्त्रीय आलोचक के लिए तो स्वरूप और उद्देश्य दोनों का ही समान महत्त्व है—सम्भव है वह स्वरूप को ही अधिक महत्त्व दे क्योंकि उसका विवेचन और निर्णय अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। परन्तु रचनात्मक साहित्य की सृष्टि करने वाले के लिए उद्देश्य ही प्रधान होता है, व्यावहारिक दृष्टि से भी कवि और सहृदय, नवीन शब्दावली में कलाकार और समाज दोनों के लिए उद्देश्य का ही अधिक महत्त्व है; क्योंकि दोनों के बीच यह एक प्रकार का सेतु है। दिनकर के इस संग्रह की मूल समस्या यही है, अपने लेखों और भाषणों में वे पहलू बदल-बदल कर इसी से जूझे हैं। इस प्रसंग के अन्तर्गत पहले तो यही प्रश्न उठता है कि कला अथवा काव्य के लिए उद्देश्य की अपेक्षा भी है कि नहीं। चिंतकों का एक वर्ग कहता है कि कला अपना उद्देश्य स्वयं है, और जब आप उससे पूछें कि क्या आनन्द भी इसका उद्देश्य नहीं है तो इसका उत्तर या तो यह मिलेगा कि 'नहीं, आनन्द उसकी विधि है, उद्देश्य नहीं है', या फिर यह कि 'कविता का आनन्द' निरुद्देश्य होता है। दिनकर का मत इस विषय में असंदिग्ध है। वे कला या कविता को निश्चित रूप से सोद्देश्य मानते हैं: "सच तो यह है कि ऊंची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती; क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।" (पृष्ठ ६०) परन्तु यह उद्देश्य क्या है, दूसरा प्रश्न स्वभावतः ही यह उठता है। इसके उत्तर में दिनकर एक स्थान पर लिखते हैं: "व्यापक मतभेदों के होते हुए भी अधिक लोग यह मानते हैं कि कविता का उद्देश्य आनन्द का सर्जन है।" (पृ० १४२)

"कविता हमें रूक्ष और स्थूल से हटाकर अलौकिक तथा मधुर आनन्द के देश में पहुँचाती है और इस प्रकार हम गद्य की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर उठ सकें कवि-कला की सफलता उतनी अधिक मानी जानी चाहिए। (पृ० १४६)"—और स्पष्ट शब्दों में—"फूल हों या राजनीतिक समस्याएं कवि का लक्ष्य आनन्दानुभूति होता है; प्रचार उसके लक्ष्य का कोई अंश नहीं हो सकता। उसका काम संसार को कुछ सिखाना नहीं, प्रसन्न करना है।"

यह निर्भ्रान्त शब्दों में काव्य में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है, परन्तु लेखक ने आनन्द की परिधि को अत्यन्त व्यापक माना है, आनन्द में केवल जीवन की मधुरता और कोमलता ही नहीं, वरन् उसके समस्त संघर्ष अपनी सम्पूर्ण कटुता के साथ समा जाते हैं। ऊपर के उद्धरण में फूल के साथ राजनीतिक समस्याएं जोड़कर उसने यही व्यक्त किया है।

फूलों को देखना, शहीदों की समाधि पर आँसू बहाना, हृदय-विदारक दृश्यों को सफलता-पूर्वक चित्रित करना, अपने हृदय के क्रोध, विश्वास, भय एवं ग्लानि के भावों को सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त करना, यह सभी कुछ आनन्द के अन्तर्गत आता है। आनन्द से तात्पर्य ऐन्द्रिय-विलास और सनसनाहट से न होकर जीवन के स्वस्थ आनन्द का है, जिसके अन्तर्गत शृङ्गार के साथ ही हास्य, करुण, वीर, रौद्र, अद्भुत, शांत, वीभत्स और भयानक भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की उदार दृष्टि आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी आदर की दृष्टि से देखती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उसका पूरा बल जीवन और उसकी अनुभूतियों पर ही है। इस प्रकार वह आनन्द और कल्याण, दूसरे शब्दों में सुन्दर और शिव को एक रूप कर देखता है: "सुन्दर काव्य का प्रेय है परन्तु उपयोगी भी उसका श्रेय है। इस-लिए बिना इन दोनों का ग्रंथि-बन्धन हुए सत्काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है।" "कला का उद्देश्य जीवन के उपयोगी तत्वों का संयोग उन तत्वों से स्थापित करना है जो हमें आनन्द देते हैं।"

उपयोगी की व्याख्या करते हुए दिनकर ने समकालीन भौतिक जीवन के विकास पर बल दिया है, राजनीति और समाज-नीति को भी वे काव्य की भूमि में स्थान देने को तैयार हैं बशर्ते कि उनसे सौन्दर्य की उद्बुद्धि हो। पर सिद्धान्तों के प्रचार, पार्टी के प्रस्ताव या हुकूमत के परवाने से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विषय में उनकी सम्मति सर्वथा निर्भ्रान्त है। राजनीति काव्य की विरोधी नहीं है, परन्तु साथ ही उसकी निर्देशिका भी नहीं हो सकती। वास्तव में ये दोनों जीवन की एक ही अवस्था की अनुभूति की भिन्न-भिन्न पद्धतियां हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में "कवि का काम किसी राजनीतिक दल के सिद्धान्तों की विवेचना नहीं प्रत्युत उन अवस्थाओं की काव्यात्मक अनुभूति व्यक्त

करना है जिनके भीतर से राजनीतिक सिद्धान्त भी पैदा होते हैं।" परन्तु उपयोगिता की परिधि वे यहीं तक नहीं मानते। अपने समाज के भौतिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करना, और फिर उलट कर उसको प्रेरणा देना कवि का धर्म है इसमें सन्देह नहीं, और इस धर्म का पालन करने वाला कवि धन्य है, किन्तु "जिस कवि ने मानवीय चेतना की सीमा विस्तृत की है, कल्पना के पर फैलाकर मानव-मन का विस्तार नापा है, जीवन के ईथर में विहार करते हुए मधु और अमृत के गीत गाए हैं, मनुष्य को ऊर्ध्वगामी होने का संकेत दिया है, और अपनी अनुभूति के सुन्दर-से-सुन्दर क्षणों का इतिहास साहित्य देवता को अर्पित किया है, उसे (भी) क्यों लज्जित होना चाहिए ?" पहला यदि जीवन को शक्ति देता है तो दूसरा वृत्तियों का परिष्कार करता हुआ चरित्र का संस्कार करता है। इस प्रकार दिनकर की काव्य-दृष्टि में वाञ्छित औदार्य मिलता है जो एक ओर उन्हें निष्प्राण कलावादियों और दूसरी ओर प्रगतिवादियों से पृथक् कर काव्य की समतल और स्वच्छ भूमि पर आसीन करता है।

दिनकर के ये सिद्धांत पुस्तकों अथवा घोषणा-पत्रों से ग्रहण किये हुए नहीं हैं, वे केवल विचारित ही नहीं हैं, वरन् अनुभूत भी हैं। पीछे एक प्राणवान व्यक्तित्व का बल होने के कारण उनके सिद्धान्तों में बौद्धिक रूक्षता न होकर भावों की उदग्र प्रेरणा सर्वत्र वर्तमान मिलती है। वास्तव में उनके व्यक्तित्व की भांति उनके सिद्धान्त भी अभी क्रमशः निर्माण-पथ पर हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सजीवता का प्रमाण है कि उन्होंने किसी एक विचार-पद्धति को नतशिर होकर स्वीकार नहीं कर लिया, वरन् अपने इस संक्रांति-युग की द्वन्द्वमयी चेतना को उसके सहज रूप में ग्रहण किया है। भारतीय आदर्शवाद और विदेश के भौतिकवाद [और निश्चित शब्दावली में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहिये] ने हमारी पीढ़ी के लोगों के मनों में जो एक खिंचाव पैदा कर दिया है, दिनकर ने उसको पूरी ईमानदारी से ग्रहण किया है, और उतनी ही ईमानदारी से व्यक्त भी किया है। उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद की छाया है, परन्तु उनका चेतन मन सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागरूक है। भारतीय आदर्शवाद उन्हें आकाश की ओर खींचता है, परन्तु बिहार

का उत्क्रान्त वातावरण उन्हें धरती से अलग नहीं होने देता। इसी द्विविधा के कारण उनकी उक्तियों में कहीं-कहीं बड़ा विचित्र विरोध मिलता है। अपने 'काव्य-समीक्षा और दिशा-निर्देश' निबंध में उन्होंने कविता को शुद्ध कला माना है--यहाँ तक समें वस्तुतत्त्व की अपेक्षा अभिव्यञ्जना को अधिक महत्त्व दे दिया है, और उधर व्यक्ति-वाद की प्रतिष्ठा करते हुए वे सीधे जन्म-जात प्रतिभा की अनिर्वचनीयता तक पहुँच गए हैं। (१)

परन्तु इसके विपरीत 'प्रगतिवाद, समकालीनता की व्याख्या।' और 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' आदि भाषणों में उन्होंने कविता की भौतिक तथा सामाजिक प्रकृति की अत्यन्त आवेग-पूर्ण घोषणा की है। (२)

यह द्विविधा केवल दिनकर में ही नहीं, उनके सभी सहयोगी कवियों---नरेन्द्र, अञ्चल, सोहनलाल द्विवेदी आदि में उतनी ही स्पष्ट है। परन्तु अन्तर केवल एक है—नरेन्द्र ने समाजवाद की जीवन-दृष्टि को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लिया है, अञ्चल ने भी कम-से-कम दोनों हाथों से उसे पकड़ अवश्य लिया है, इसलिए ये दोनों सैद्धांतिक

पाद टिप्पणी---"कविता कला है, और जहाँ कला है वहाँ हमें "क्या" की अपेक्षा "कैसे" पर अधिक ध्यान देना पड़ेगा, जब कवि-प्रतिभा इस "कैसे" में दक्ष है तब हर चीज़ उसके स्पर्श से काव्य बन सकती है।" (पृ० १४४) × × × कवि-प्रतिभा एक ऐसा ही +(अनिर्वचनीय और ईश्वरीय) विलक्षण तत्त्व है, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका। (पृ० १४७) काव्य को इस गोतीत माया के कारण तो शास्त्रीय नियमों से नहीं बाधा जा सकता।

+ कोष्ठ-बद्ध शब्द मेरे हैं (पृ० १४८)

पाद टिप्पणी—(२) दरअसल साहित्य, राजनीति, दर्शन और विज्ञान सब के सब एक ही जीवन के पूरक अंश हैं, और उनमें से मूलतः कोई भी किसी का विरोधी नहीं है। × × जीवन की एक ही अवस्था की भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ पद्धतियों की भिन्नता के क्रम से कविता, राजनीति और विज्ञान बन जाती हैं। (पृ० १२६)।

विवेचन करते हुए अपनी द्विविधा को समाजवाद की बौद्धिक रूढ़ियों में छिपा लेने का सफल-असफल प्रयत्न कर सकते हैं। सोहनलाल द्विवेदी भी गांधीवाद का दम भरते हैं, और उनकी दुहाई काफ़ी जोर-शोर से देते रहते हैं, परन्तु उनके विचारों में बौद्धिक शक्ति और सचाई दोनों ही बहुत कम हैं। दिनकर का व्यक्तित्व अनुभूति-प्रधान है उसने पूर्वी भारत की भावोष्णता को उत्तराधिकार में पाया है, अतएव यह द्विविधा उसमें अधिक व्यक्त है—गांधीवाद के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसने कहीं भी उसकी बौद्धिक रूढ़ियों में इसे छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। इस द्विविधा को मिटाने की एक और विधि हो सकती थी आत्म-चिंतन। चिंतन की मन्द-मन्द आग में गलकर इसके कोने एकसार हो सकते थे, परन्तु दिनकर की जवानी अभी इसे शायद गवारा नहीं करती।



: तरह :

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा, और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राज-

नैतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेकरूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमाएं, रेखाएं एकांत दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोग-वादियों की भाव-भूमिका पर एकांततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोग-वादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में ही चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र देता है × × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी। (अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका)। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिरगतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रह-पूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है। काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के ग्रास पर कोई भी युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अंग्रेजी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना विकास हुआ और सौन्दर्य की परिधि केवल, मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़ और 'भदेस' का समावेश किया गया। वास्तव में नए कवि ने अतिशय-कोमलता और मार्दव से ऊबकर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया :

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य-धन गदहा।

यहाँ तो केवल वस्तु में भदेसपन है क्योंकि इनका लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्बाह्य भदेसपन के लि' डा० रामविलास और श्री० केदार, या हंस में नित्यप्रति छपने वाली कविताएं आदर्श हैं :

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग़ भुस का, खद्दर का खाल था।

(नागर्जुन-हंस)

अपने दृष्टिकोण की सफ़ाई में उसने कहा कि सौन्दर्य को केवल-मधुर कोमल में सीमित कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौन्दर्य-चेतना एक अत्यंत व्यापक चेतना है और गत्यात्मक भी, जो परिस्थिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी। आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक

निकट है इसलिए उसकी चेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विशृङ्खलित और अव्यवस्थित है; जीवन-मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियां डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फंसकर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आये, परन्तु मानव-चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतंत्र थीं, किन्तु आज ये एक दूसरे में गुंथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है, विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है। और आज की सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर विश्वास तो हिला दिया है—परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा है। समाज की प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई है परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नहीं दिखाई देती। राजनीति में हिंसा-अहिंसा, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद का, और अर्थनीति में पूंजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का, और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन, अचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकांत धूमिल और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है—वह केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावादी सौन्दर्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है—और वे उसके प्रतिकार रूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल संकुल सौन्दर्य-बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक मानकर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर

अन्तर को यह कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है—और सूर्य और मेंढक, चांदनी रात और मूत्र-सिंचित वृक्ष में खड़े हुए गदहे, नूपुर-ध्वनि और चप्पल, कांट, क्रिक्टे और ख़ाली चाय की प्याली को साथ-साथ ग्रहण करता है :

१. तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल !
(भारतभूषण)

२. कब तक मग़ज़ मारता बैठूँ तुमसे कांट और बोज़ांके,
तर्क धुला जाता है बांके, उधड़ रहे सीने के टांके।
जीवन धोखा हो तो हो, यह प्यार कभी जोखों से ख़ाली
यह सब एक विराट व्यंग है, मैं हूं सच औ चा की प्याली।
(माचवे)

यहीं से प्रयोगवादी कविता का वस्तु-परक दृष्टिकोण ज़ोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक-से-अधिक वस्तु-गत बनाये, वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यञ्जना को अनूदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पगा हुआ है। केवल केदार, शमशेरसिंह और अंशतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये।

वास्तव में देखा जाय तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव ही नहीं है। इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—सबसे अधिक अज्ञेय। मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथा-तथ्य चित्रण अज्ञेय और गिरिजाकुमार में अत्यन्त स्पष्ट है और वैसे अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं हैं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में काफ़ी अन्तर है। छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं को काम-प्रतीकों द्वारा [प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा]

सहज रूप में व्यक्त करता था वहाँ प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निविड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न रहता है, और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ वस्तु-परक और व्यक्ति-परक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त अनुभव-खंडों को, जो एकांत व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अङ्कन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब-ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण नहीं कर पाता—वरन् एक प्रकार से वह साधारणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खंडों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन भावखंडों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्धव्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है, क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण व्यक्त प्रतीक अवांछित हैं। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खंड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खंड अथवा धारणा की उद्बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार प्रवाह' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणाम-स्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना चिंतन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्त्व का बोझीलापन है, परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएँ प्राचीन दार्शनिक अथवा चिंतन-विचार-प्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आतीं। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका, अथवा इधर प्रसाद महादेवी आदि की दार्श-

लिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहाँ दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है वहाँ इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था, पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएं (Intellectual concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है। "जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थ-व्यंजना को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है, इसलिए वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् "शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है।" उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि "साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां रूढ़ हो गई हैं अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसके लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है : एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, बाज़ार, गाँव, गली-कूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द-भंडार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है; और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यन्त असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है, और उसकी अर्थ-व्यंजना जवाब दे देती है। अपने उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उतार देने के लिए भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरते हैं, निदान उसे इतर साधनों

की शरण लेनी पड़ती है—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों, अङ्कों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उलटे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों" की शरण लेनी पड़ती है। या फिर, वह विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने-अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरखधन्धा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छंद-विधान में भी इस क्षुब्ध-संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त-व्यस्त काव्य-सामग्री को वहन करने योग्य नए-नए प्रयोग अनिवार्य हो गए। पुराने वर्णिक और मात्रिक छंदों की स्थिरता नये जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छंद को ही ग्रहण करता है और उनमें वर्णिक और मात्रिक छंदों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त पदांश और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यंत सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णांत तुकों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उनकी धारणा है कि पूर्णांत तुक छंद-बंदों को अतिशय नादमय बना कर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देतीं। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—और उनके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसके छंद-विधान में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता रहती है जो केदार, शमशेरसिंह-जैसे कवियों में अत्यन्त नीरस और जड़ हो जाती है; अज्ञेय अपने शब्द-चयन के बल पर उसकी गद्यमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं, परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नये कवियों में मधुर-कोमल स्वर-सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान उनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता! ये कविताएं अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिये हुए हैं—जिनमें चार मुख्य हैं: भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच

रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत चित्रण का आग्रह, तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफ़ाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धान्तिक हैं। और, मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धान्तिक हैं क्योंकि इनके आधार-भूत सिद्धांत ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत सम्बन्ध को लीजिये! काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-शास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वजनीन सत्य है, और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है; परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धितत्त्व रागतत्त्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य तत्त्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है। दाँते, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद जिस-किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-गुण की क्षीणता का निर्णय दे दिया है। इसका निषेध करने का साहस टी. एस. इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर

जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में—उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग़ को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता, और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तर्चेतन अथवा उपचेतन की संवेदनाएं प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनों की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक होती है—अतएव जन-साधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव-भर करके रह जाता है, कवि उनको सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है, और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यञ्जना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धांत की असंगति का अकाट्य प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रूढ़ हो जाने की बात भी काफ़ी विचित्र है। प्रयोगवादी की सफ़ाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को

वहन करने में असमर्थ हैं। नई प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धांत में इससे कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि कवि के मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्हीं ने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आखिर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझ कर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन वास्तव में यह सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता-मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोगवादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएं ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें बिम्ब रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है, दूसरे वह उलझन को ही 'संवेनीय' मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल

रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्बरूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनाना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है अर्थात् अपने संवेद्य को बिम्ब-रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है—और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

अब रह जाता है भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असंगत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है। उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द-संयोजना, वाक्य-रचना, लक्षणा-व्यञ्जना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द को कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ को प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्धव्यक्त अनुभव-खंड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से समझ भी जाय तो उसे गोरखधन्धे को खोलने का आनन्द मिल सकता है काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता। साधारण दुरूहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है लेकिन जहाँ प्रयत्न-पूर्वक दुरूहता के सभी साधन एकत्र किए गये हों, वहाँ रस-प्रतीति कैसी ?

सारांश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का संतुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त प्रयोग करना, उनको रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गति-विधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है। परन्तु यदि एतादृशत्व-मात्र से वैर हो जाय, और नवीनता की खोज अथवा नये प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जायं, उनको यदि जीवन के मूल तत्त्वों से अधिक महत्त्व दिया जाने लगे, तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में भी ठीक यही बात है। काव्य के मूलतत्त्व रस-प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रखकर, काव्य को गतिरोध और रूढ़ि-जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं। परन्तु क्रम को उलटकर काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना उन्हें ही साध्य मान लेना हलकी साहसिकता-मात्र है—काव्य-गत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम-विपर्यय है।

